शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

अप्रेल : १९६४ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, प्रथम चैत्र, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : १२

पात्रता हो तो प्रभुता प्रगट होगी

जैसे किसी को हीरे का व्यापार सीखना हो तो उसे प्रथम परीक्षक बनना होगा, पश्चात् उसके विशेष अभ्यास से अनेक कलाएँ खिलती हैं; उसीप्रकार जिसे सर्वज्ञ; वीतरागदेव ने साक्षात् अपने ज्ञान में जानकर कहा है, तथा जो त्रिकाल में नहीं बदलता, ऐसा परम सत्य है – उसका भलीभाँति अभ्यास करके जाने और अंतर में उसका मिलान करे तो पूर्ण स्वभाव का सच्चा माहात्म्य आये तथा अंतर की समृद्धि को बराबर जान सकता है। पश्चात् शास्त्रज्ञान की सूक्ष्मता में गहराई से उतरे, तब केवलज्ञान की धारा प्रवाहित हो, ऐसे आनंद का अनुभव करेगा। जैसे बहीखाते का पृष्ठ उलटते ही मानों सोना झरता है; उसीप्रकार यहाँ श्री समयसार के प्रत्येक पृष्ठ पर केवलज्ञान की सम्यक् कला खिले ऐसा वर्णन है। ऐसी पात्रता सभी में भरी है। स्वयं तैयार हो तो वस्तु दूर नहीं है।

(श्री समयसार प्रवचन भाग १ से)

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[२२७]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

—नया प्रकाशन—

श्री समयसारजी परम अध्यात्म-शास्त्र

(तीसरी आवृत्ति)

भगवन श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत सर्वोत्तम अध्यात्मशास्त्र, श्री अमृतचंद्राचार्य कृत संस्कृत टीका सहित हिन्दी अनुवाद। प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट सोनगढ़।

यह अद्वितीय जगतचक्षु समान आध्यात्मिक ग्रंथाधिराज है, परिभाषण पद्धति से जो सूत्र रचना हो वह सर्वोत्तम मानी जाती है जैसी मूल सूत्रों की सर्वोत्तम रचना श्री कुन्दकुन्दाचार्य की हे, ठीक वैसी ही आत्मख्याति नामक टीका सर्वोत्तम है, वीतरागता, और स्वतंत्रता ग्रहण करने की रुचि से पढ़ने से उसका रसास्वाद आता है।

जिसमें ज्ञानी-अज्ञानी जीवों का स्वरूप, भेदविज्ञान, नवतत्त्वों का रहस्य खोलनेवाले सात अधिकार, कर्ताकर्म, सर्वविशुद्धज्ञान, अनेकांत, ४९ शक्ति, मोक्षमार्ग का स्वरूप, साध्यसाधक भाव का स्वरूप आदि का सुस्पष्ट वर्णन है। उस पर सातिशय प्रचंड निर्मल, तत्त्वज्ञान के धारक अजोड़ महर्षि श्री अमृतचंद्राचार्य की सर्वोत्तम संस्कृत टीका है। अत्यंत अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जीवों को भी जिसमें समझाया गया है। हिन्दी अनुवाद, तीसरी आवृत्ति, इस ग्रंथ में गाथाएँ लाल स्याही से छपी हैं, कुछ गाथाएँ सुनहरी कलर में हैं। बढ़िया कागज पर सुंदर ढंग से छपने पर भी मूल्य लागत से भी बहुत कम रखा है, सभी जिज्ञासु यथार्थतया लाभ लेवें ऐसी भावनावश इस ग्रंथाधिराज का मूल्य ५) रुपया रखा है। पोस्टेजादि अलग। पृष्ठ संख्या ६४१ बड़े आकार के हैं।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

पोस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[नोट—यह शास्त्र बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, भोपाल, सागर, उज्जैन, विदिशा, लश्कर, इन्दौर, उदयपुर, गुना, अशोकनगर आदि गाँवों में दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा प्राप्त हो सकेंगे।]

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

अप्रेल : १९६४ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, चैत्र, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : १२

उत्कृष्ट धर्ममंगलदर्शक वाणी

[श्री समयसार शास्त्र पर १४वीं बार प्रवचन प्रारम्भ करते हुए
प्रथम गाथा पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

वंदित्तुसव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणयो सुयकेवलि भणियं॥१॥

ध्रुव अचल अरु अनुपम गति, पाये हुये सब सिद्ध को,
मैं बंदु श्रुतकेवलि कथित, कहूँ समयप्राभृत को अहो॥१॥

श्री आचार्यदेव अनंत सर्वसिद्ध परमात्माओं का स्मरण करके, दृष्टि सन्मुख लेकर, विनयपूर्वक कहते हैं कि मैं ध्रुव, अचल और अनुपमगति अर्थात् स्वभाव से ही उन्नत सम्पूर्ण शुद्धात्मपरिणति—उसे प्राप्त हुए ऐसे सर्वसिद्ध परमेष्ठी—सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके, अहो! श्रुतकेवलियों के कहे हुए इस समयसार नाटक प्राभृत-अधिकार का कथन करूँगा।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव नग्न दिगम्बर मुनि भावलिंगी सन्त थे, जिनका स्थान मंगलाचरण में गौतम-गणधर के पश्चात् तुरन्त ही आता है। जिन्होंने भरतक्षेत्र में केवली के विरह को भुला दे, ऐसी श्रुतामृत की सरिता बहायी है। श्री जयसेनाचार्यदेव कहते हैं कि जयवन्त वर्तें वे पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) आचार्य कि जिन्होंने महतत्त्व से परिपूर्ण प्राभृतरूपी पर्वत बुद्धिरूपी सिर पर उठाकर भव्यजीवों को समर्पित किया है, जो विक्रम संवत् ४९ में थे, वे वन में वास करते थे; मद्रास से ८० मील, कांजीवटम से ४० मील पोन्नूर हिल (सुवर्ण का पर्वत) है, वहाँ ध्यानमग्न होकर महाविदेहक्षेत्र याद करते थे। वहाँ 'सत्यधर्म की वृद्धि होओ' ऐसे आशीर्वाद का सन्देश लेकर

पूर्वभव के मित्र—दो देव महाविदेहक्षेत्र से आये और अपनी चारणऋद्धि के बल से वे महाविदेहक्षेत्र गये, जहाँ वर्तमान में भी श्री सीमंधर परमात्मा साक्षात् तीर्थंकरपद में विराजमान हैं। वहाँ वे आठ दिन तक रहे और फिर इस भरतक्षेत्र में आकर श्री समयसारजी आदि शास्त्रों की रचना की। उसमें प्रथम महामांगलिक गाथा प्रारम्भ करते हुए 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' ऐसा भाव और विकल्प (शुभराग) उठा अपने कारण और अक्षर लिखे गये उनके कारण; वहाँ इन्हीं शब्दों में अपूर्व मंगलदर्शक ध्वनि होने के काल में इस सूत्र की रचना हो गई। अहो! धन्य भाग्य है कि आत्मार्थी मुमुक्षु जीवों को परम आधारभूत उनके शास्त्र जितने हैं, उतने अखण्डित रह गये हैं। उस काल वीतरागधर्म की महिमा कितनी होगी!!

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने महान एवं सर्वोत्तम टीका की है। जयपुर निवासी श्री पंडित जयचन्द्रजी ने उस टीका पर से हिन्दी में वचनिका की है। श्री हिम्मतलालभाई ने उनके आधार सहित गुजराती में संस्कृत टीका का अनुवाद तथा मूल गाथाओं पर से गुजराती में पद्यानुवाद (हरिगीत) किया है।

हरि=पापं, अघं हरितीति हरि=अपने को भूल जाना, पर में ममता और पराश्रय (राग-द्वेष-मोह) रूपी पाप (अघ), उसको हरे, ऐसे आत्मा को ही हरि कहा जाता है। भेदविज्ञान द्वारा अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करे, तब वह पाप हरा जाता है। रागादि दोषों को मैं नष्ट करूँ—ऐसा विकल्प भी नहीं करना पड़ता। वह विकल्प (राग) जीव को स्पर्श ही नहीं करता। जड़कर्म के उदय को राग ने स्पर्श ही नहीं किया है। यदि दो भिन्न वस्तुएँ एक-दूसरे का स्पर्श करें—प्राप्त हों तो उनकी स्वतंत्र स्थिति सिद्ध नहीं होती।

विकल्प उठा तो उस काल वह पर्यायधर्म उसके अपने कारण से—सत्पने से ही उठा है। विकल्प, शब्द, पदार्थ और ज्ञान सब सर्वत्र स्व से सत् है, पर से नहीं है। प्रत्येक पर्याय अपने से सत्पना प्रकाशित करती है।

टीका - अथ शब्द मंगल के अर्थ को सूचित करता है। (श्री समंतभद्राचार्य और स्वामी पात्र केसरी के बीच के समय में वक्रग्रीवाचार्य थे, उन वक्रग्रीव मुनि ने 'अथ' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों का छह महीने तक विस्तार किया था; आधार-प्राचीन जैन समारक मद्रास मैसूर प्रान्त,पृष्ठ २६९) अथ अर्थात् मंगल, प्रारम्भ। अब, अनादिकाल से जीव अपनी भूल द्वारा अज्ञान, राग-द्वेष, मोहदशा में परिवर्तित होता था, वह अब निर्मल विज्ञानघनस्वभाव में शुद्धदृष्टि से ढला, वहाँ पूर्णता

के लक्ष से मंगल प्रारम्भ, साधकदशा प्रगट हुई; शुद्धस्वभावशक्तिरूप से या उसकी प्रगटतारूप से उत्पत्ति और अशुद्धता का व्यय हुआ। अब अर्थात् पूर्वकाल में दूसरा अर्थात् स्वभाव से विरुद्ध दृष्टि, ज्ञान और आचरण था, उसके अभावस्वभावी नित्य ज्ञानानन्द से पूर्ण समस्वभावी चैतन्यसूर्य मैं आत्मा हूँ, इसप्रकार अखंड ज्ञायक के अनुभव से जागृत हुआ, तब से पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ हुआ। उस अपूर्व साधकपने का प्रारम्भ हुआ जो अनादिकाल से नहीं था। प्रगट दशा में बाकधपना अनादि से था; किंतु साधकदशा अनादिकालीन नहीं होती। समुद्राय अपेक्षा से चार गतियाँ (-मनुष्य, तिर्यंच, देव और नरक) साधक और बाधक तथा सिद्ध परमात्मा अनादि से हैं, किंतु अमुक व्यक्ति सिद्धत्व को साधे, वह सादि है।—आचार्यदेव कहते हैं कि हमें ऐसा मंगलभाव जागृत हुआ है। अनंत सर्वसिद्धों को एकसाथ सन्मानपूर्वक ज्ञान में समाकर नमस्कार करता हूँ। अहो, यह तो कोई दैवी टीका है... समयसार तो भरतक्षेत्र में अद्वितीय है... परमात्मतत्त्व को प्राप्त करने का अद्वितीय चक्षुरूपी साधन है। श्री अमृतचंद्राचार्यदेव भरतक्षेत्र में अध्यात्म के अद्वितीय टीकाकार हो गये हैं। समयसार सर्वोत्कृष्ट परमागम है, उसमें अत्यंत अज्ञानी को भी सारतत्त्व स्पष्टरूप से समझाया है। परमार्थ—सत्यार्थ तथा स्वाश्रय को बतलानेवाला, वह निश्चय है और भेद-उपचार तथा पराश्रय को बतलानेवाला, वह व्यवहार है। निश्चय और व्यवहार इन दो नयों में विषय के भेद से परस्पर विरोध है; उसका नाश सम्यग्ज्ञान के बिना नहीं होता।

जिन्होंने प्रथम पद में अपना पाँव रखा है, **अर्थात् जिनके स्वाश्रय द्वारा मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हुआ है, तथापि, अरे रे! उनको व्यवहारनय हस्तावलंबन की भाँति कहा है अर्थात् साधक को बीच में आता है। हिन्दी टीका में पंडित जयचंद्रजी ने उस व्यवहार का खेद प्रगट किया है कि जबरन बलपूर्वक उसका अवलंबन आ जाता है। 'परम अध्यात्म तरंगिणी' के हिन्दी अर्थ में लिखते हैं कि यदि बीच में व्यवहारनय के भेद न आते होते अर्थात् उग्र पुरुषार्थ द्वारा शुद्ध चैतन्य की प्राप्ति हो जाये तो सम्यग्दृष्टि 'उसे झाँककर भी नहीं देखता' अर्थात् उस पर दृष्टि भी नहीं डालता।**

यहाँ अनन्त सिद्धों को स्व-पर के आत्मा में स्थापित करके इस शास्त्र का द्रव्य-भावचन से वर्णन प्रारम्भ करते हैं—ऐसा कहने में बहुत कह दिया है।

जिसने सिद्धपरमात्मा को पहिचानकर अपने असंख्यप्रदेश में पूर्ण विज्ञानघन भगवान की स्थापना की है, उसने संयोग, संसार, विभाव, पराश्रय—व्यवहार का अंशमात्र भी आदर और प्रवेश

नहीं रहा। जिसप्रकार पानी के तपेले में उसी के माप का लकड़ी का गोला तख्ता डाल दें तो तपेले में भरा हुआ पानी बाहर निकल जायेगा और फिर तपेले में अन्य किसी वस्तु का प्रवेश नहीं हो सकता, उसीप्रकार सिद्ध परमात्मा को जानकर उनका आदर किया, वही निश्चय से सादि अनंत निज शुद्धात्मा की भक्ति और वंदना है, उसमें विरुद्ध का आदर और प्रवेश कभी होता ही नहीं।

अहो!—

'सादि अनंत अनंतसमाधिसुखमां,
अनंतदर्शन ज्ञान अनंत सहित जो।
अपूर्व अवसर एवो निश्चय आवशे।'

सिद्ध भगवान अनन्त हो गये हैं और छह महीना आठ समय में छह सौ आठ जीव सिद्धपरमात्मदशा को प्राप्त होते ही हैं। छह सौ आठ जीव उतने काल में नित्यनिगोद एकेन्द्रिय शरीर छोड़कर अन्य एकेन्द्रिय अथवा त्रसपना (दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रियपना) प्राप्त करते हैं।

सिद्धों की (संसार से मुक्त अवस्था परमात्मदशा प्राप्त करनेवालों की) संख्या कितनी?—तो कहते हैं कि—अंगुल के असंख्यवें भाव में असंख्यात निगोद शरीर हैं, उनमें से एक शरीर के अनंतवे भाग अनंत सिद्ध हैं और ऐसे एक शरीर में जो अनंतानंत जीवराशि है, उसके अनंतवें भाग जीव सिद्धपरमात्म पद को प्राप्त हुए हैं, वे सब भेदविज्ञानरूप निश्चय सिद्धभक्ति से प्राप्त हुए हैं। जैसा वस्तु का स्वभाव है, वैसा जानकर निर्णय करे, तभी अपने शुद्धस्वरूप में दृष्टि दे सकता है, और स्वसत्ता के आलंबन द्वारा मोक्षमार्ग को साध सकता है।

सम्यग्दर्शन, वह सिद्धपरमात्मा की छोटी से छोटी भक्ति है। अहो! एक समय में अपार ज्ञानानंद से परिपूर्ण स्वभाववान मैं हूँ। जैसा सिद्धभगवान का स्वभाव है, वैसा ही मैं हूँ; उनमें शक्तिरूप से तथा प्रगटरूप से अपार ज्ञानसुख है, मुझमें शक्तिरूप से परिपूर्ण है।—**इसप्रकार भेद को गौण करके उसका आश्रय छोड़कर अंतर में पूर्ण सिद्धपद का आदर तथा आश्रय करने के लिये सावधान हुआ, वही अनंत सिद्धों को नमस्कार है।**

'बढ़े न सिद्ध अनंतता, घटे न राशि निगोद;
जैसे के तैसे रहें, यह जिन वचन विनोद।'

सिद्धों की संख्या अनंत है, संसारी जीव अनंतानंत हैं; उनमें से छह महीना आठ समय में छह सौ आठ जीव मोक्ष जाते हैं और त्रस राशि में असंख्य जीव हैं, वह संख्या अनंत संख्या के सामने अत्यल्प है।

प्रत्येक द्रव्य का द्रव्यस्वभाव, गुणस्वभाव, पर्यायस्वभाव सत् है, स्वतंत्र है, स्व से है पर से नहीं है। काल और क्षेत्र भी अनंत है। आकाशद्रव्य क्षेत्र से अनंत है; उसके अनंत क्षेत्र की किसी दिशा में किसीप्रकार सीमा नहीं है। काल की अनादि-अनंतता में कोई सीमा नहीं है। समस्त द्रव्य अनादि-अनंत सत् हैं; उनकी पर्यायें भी निरंतर नई-नई होती रहती हैं, उनकी भी सीमा नहीं है। ज्ञान का स्वभाव एक समय में सर्वथा सर्व को जानता है। वस्तु की पर्यायशक्ति भी किसी काल में पर की अपेक्षा नहीं रखती—**ऐसा वस्तु का स्वभाव है।** जो है, उसे करे कौन ?

—इसप्रकार स्वतंत्रता, यथार्थता और वीतरागता का स्वरूप जानकर, अनंत सिद्धपरमात्मा का आदर करके चारित्र वैभववान आचार्यदेव अभी से स्व-पर के आत्मा में अनंत सिद्धों की स्थापना करके कथन करते हैं। स्वसन्मुख ज्ञायकपने का मंथन करते-करते समयसारजी की व्याख्या पूर्ण हो गई है; उसमें समस्त धर्म जिज्ञासुओं को आमंत्रण दिया है। ऐसे श्रोताओं को लक्ष में लिया है, जो सर्वज्ञ की सत्ता और सिद्धत्व का आदर करें, उससे विरुद्ध का (पराश्रय का) आदर न करें।

पाँचवीं गाथा में कहा है कि—मैं एकत्व-विभक्त ऐसे शुद्धात्मा को दर्शाता हूँ। जो स्वरूप अपने आत्मा के सर्व वैभव से बतलाता हूँ, उसे तुम स्वानुभव से प्रमाण करना। जो प्रमाण न करें, उन्हें याद नहीं किया है। यहाँ नि:संदेह स्वानुभव प्रमाण आदि सर्व वैभव से आत्मा बतलाता हूँ और जो उसे प्रमाण करें, उसी में रुचिवान रहें, ऐसे योग्य श्रोताओं को लिया है।

पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ

[वि० सं० २०१९ कार्तिक शुक्ला १ सोमवार के दिन सोनगढ़ में मध्याह्न का प्रवचन]

श्री समयसारजी का मंगलाचरण करते हुए आचार्यदेव ने स्व-पर के आत्मा में अनंत सिद्ध परमात्मा की स्थापना की है। उन्हीं को उत्कृष्ट तथा साध्यरूप से जानकर नमस्कार-आदरसहित स्वीकार किया है। मैं जिसप्रकार पूर्ण साध्य को अपने आत्मा में स्थापित करके शुद्धात्मा का वर्णन करूँगा, उसे जो यथार्थयप से सुनें, प्रमाण करें, उन्हीं को मैं समयसार का श्रोता कहता हूँ। अपने परमात्मपद से एकत्व और मिथ्यात्वादि आस्रवों से विभक्त पूर्ण स्वरूप को मैं दर्शाता हूँ तो उसे सुननेवाले भी यथातथ्यरूप से ग्रहण करके प्रमाण करें, ऐसे होना चाहिये। आचार्यदेव ऐसे योग्य श्रोताओं को सुनाते हैं।

कोई कहे कि हमें अच्छा (कल्याण) करना है, किंतु अभी नहीं, अथवा इसप्रकार नहीं। शुद्धात्मा के आश्रय से ही कल्याण होता है, यह बात तो फिर कहना; पहले पुण्य करना बतलाओ, निमित्त का अवलंबन बतलाओ तो उसे सत्य का आदर नहीं है—राग का आदर है, वहाँ वीतरागता के मार्ग का तिरस्कार है।

पहले व्यवहार फिर निश्चय—ऐसा नहीं है। शुद्धात्मा की पहिचान और उसके आश्रय बिना सम्यग्ज्ञान तथा निश्चय-व्यवहार किसी को नहीं होते। यहाँ तो प्रथम से ही अल्पज्ञता, राग और निमित्त के आश्रय से लाभ मानने की बुद्धि छोड़ने के लिये त्रैकालिक पूर्ण परमात्मस्वभावी आत्मा का ही आदर कराया है और शुद्धात्मा के आश्रय से ही लाभ होता है—ऐसा बतलाना है; उसमें अनंत सिद्धपरमात्माओं का स्मरण किया है। वर्तमान अल्पज्ञ पर्याय में अनंत सिद्धपरमात्माओं को विराजमान करके, साक्षीरूप से स्थापना करके यह बात कही है। जो अनंत सिद्धपरमात्माओं का आदर करने के लिये सावधान हुआ, वह धर्मजिज्ञासु जीव साध्यरूप पूर्ण स्वभाव को ही उपादेय मानता है; नित्य के लक्ष से सिद्धपद का आदर करने का भाव बढ़ाया, वह अब शुभाशुभ विकल्प, व्यवहार (पराश्रय) का आदर न होने दे, ऐसे श्रोता को श्रोता माना गया है, दूसरे को नहीं। अरे! प्रथम से ही ऐसी बड़ी बात! हमारी ग्राह्यशक्ति अल्प है, वह अभी

सिद्धपरमात्मा होने की बात ग्रहण नहीं कर सकती—ऐसा मानता है, वह सत्यश्रद्धा करने के लिये अयोग्य है।

प्रथम से ही एकत्व-विभक्त की बात है। प्रथम से ही डंके की चोट से सत्य का श्रवण और उसके वाच्यभूत परमार्थ का स्वीकार कर। अल्पज्ञ पर्याय में पूर्ण परमात्मपद का आदर वही कर सकता है, जिसे अल्पज्ञता, मिथ्यात्व और शुभाशुभ राग का आदर नहीं है।

श्री अमृतचंद्राचार्यदेव प्रवचनसार में ज्ञेय अधिकार प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि आत्मा के आश्रय में रहे हुए ज्ञानतत्त्व का इसप्रकार यथार्थ निश्चय करके, केवलज्ञान प्रगट करने के हेतु प्रशम के लक्ष से ज्ञेयतत्त्व जानने का इच्छुक मुमुक्षु सर्व पदार्थ को द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जानता है कि जिससे मोहांकुर की बिल्कुल उत्पत्ति न हो।

'जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहिं कांई,
लक्ष थवाने तेहनो, कह्यां शास्त्र सुखदाई।'

सत्य-भूतार्थ के स्वीकार द्वारा ही असत्य का नाश होता है; उसके लिये सत्यश्रवण करने को सावधान हुआ है तो सत्य के लक्ष से असत्य को असत्यरूप से हेय जानना पड़ेगा। सत्य को हितरूप जाने बिना असत्य का आदर नहीं छूटता। **जिससे यथार्थता, वीतरागता, स्वतंत्रता बतलानेवाले जिनवचन की प्राप्ति हो, ऐसा उपदेश सुनने योग्य है।** मैं सिद्ध और तू भी सिद्ध—इसप्रकार पूर्णता का लक्ष रखते-रखते सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति और पूर्णता हो जायेगी।

धर्म की आवश्यकता है, सुखी होना है; किंतु जो ऐसा मानता है कि हम योग्य नहीं हैं, वह अपने को ठगता है। वर्तमान में अल्पज्ञान है, किंतु उसमें अनंतसिद्धों को समा लेने की शक्ति तुझमें है। प्रथम बार में ही जो अपने में अनंत सिद्धों की स्थापना करके पूर्ण साध्य का आदर करने के लिये जागृत हुआ, वह अस्ति में ही विरोधभाव की नास्ति है। जो ऐसा नहीं मानता, उसे यहाँ लक्ष में नहीं लिया है।

समयसार शास्त्र में तो किन्हीं सिद्ध परमात्मा की बात होगी—उनकी स्थापना इस समय अपने आत्मा में कैसे हो सकती है? हम तो पामर हैं, दीन हैं—हमें तो पराश्रय, व्यवहार-निमित्त चाहिये—ऐसा करते-करते धीरे-धीरे धर्म होगा।—ऐसा माननेवाले अनंत ज्ञानियों तथा सर्व आचार्य-संतों का विरोध करते हैं।

जो अल्पज्ञान पर को जानने में कार्य करता है उसे, सर्वज्ञ की सत्ता का निश्चय करने के लिये प्रथम त्रैकालिक शक्तिवान मैं सर्वज्ञस्वभावी आत्मा हूँ, उसका लक्ष और आदर करने का काम सौंपा जाता है—कि जो उसके अधिकार की बात है।

स्वभाव अपूर्ण नहीं होता; अपनी पूर्णशक्ति को श्रद्धा में लाकर अल्पज्ञान में अनंत सिद्धों का आदर होते ही अल्पज्ञता और राग का आदर छूट जाता है। प्रथम ही नित्य के लक्ष से परमात्मस्वभाव का आदर हुआ, वहाँ सादि-अनंत अंतर में एकत्व-निश्चय की प्राप्ति करनेवाला हूँ, विरुद्धता का आदर करनेवाला नहीं हूँ; इसप्रकार एकरूप वीतरागस्वभाव की अपेक्षा और सर्व विभाव की उपेक्षा करनेवाला हो जाता है, उसका नाम धर्म का प्रारम्भ है।

ज्ञान की महिमा तो देखो! वर्तमान रागमिश्रित दशा में इन्द्रियाधीन ऐसा अल्पज्ञान होने पर भी, स्वोन्मुख होते क्षण में चैतन्यवस्तु का अपार स्वभाव ग्रहण कर सकता है। अपार अनंत ज्ञान के धारक अनंत सिद्ध हो गये, उन्हें अल्पज्ञ भी माप लेता है तो सर्व राग द्वेष और आवरण रहित हुए पूर्ण ज्ञान की एक समय की एक अवस्था में—तीन काल-तीन लोक के सर्व पदार्थ समूह को सर्व प्रकार से एकसाथ जानने का प्रगट सामर्थ्य क्यों न हो?—होता ही है। उसमें स्वभाव की रुचिवान को शंका नहीं होती। सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा को स्वीकार करनेवाला स्वयं ही वर्तमान में इतना महान हो, तभी वह अल्पज्ञता के काल में पूर्ण को पहिचान सकता है। अपूर्ण ज्ञान में भी ज्ञान का ज्ञातृत्व व्यवस्थित है। पक्षपात छोड़कर परीक्षा करने का उद्यम करे तो ज्ञान में सत्य का स्वीकार होता ही है और असत्य का आदर न हो, ऐसा नियम है।

सुभौम चक्रवर्ती की
पौराणिक कथा

राजभवन सुन्दर ध्वजा-पताका आदि से सुशोभित था, चारों ओर दीवारों और कोटों पर अद्‌भुत सौन्दर्य दर्शक चित्र बनाये हुए थे, छह खंड के अधिपति सुभौम चक्रवर्ती रत्नजड़ित स्वर्ण-सिंहासन पर विराजमान थे, पास में मंत्रीगण तथा अन्य सभासद बैठे थे। संगीत, नृत्यगान तथा घुँघरुओं की छमछम से सबका मन मुग्ध हो रहा था। अचानक एक पूर्व भव का बैरी देव बैर लेने की इच्छा से व्यापारी का भेष धारण करके चक्रवर्ती को फलों की भेंट देकर कहता है कि 'राजन! आपने ऐसा मधुर फल कभी नहीं खाया होगा।' राजा फल खाकर बहुत प्रसन्न होता है और उससे पूछता है कि 'भाई! ऐसा सुन्दर स्वादिष्ट फल कहाँ से लाया?' व्यापारी ने कहा—'राजन! हमारे देश में चलिये; आपको ऐसे अनेक फल खिलाऊँगा।' देखो! रसना इन्द्रिय की लोलुपता के कारण चक्रवर्ती का विवेक भी नष्ट हो गया। उसने विचार तक नहीं किया कि—भला चक्रवर्ती के समान भोगोपभोग की सामग्री किसे मिल सकती है? वह तो तीव्र आसक्ति के कारण उन फलों को भक्षण करने में संपूर्ण सुख मानता था, इसलिये विचारने लगा कि सब सामग्री होने पर भी इस फल की मेरे यहाँ कमी नहीं रहनी चाहिये।

यदि वह चाहता तो उसके अनुपम सेवक देवों द्वारा अनुपम फल मँगवा सकता था, किंतु उसे तो उस फल का स्वाद चखने की लोलुपता का ऐसा नशा चढ़ा था कि अपने यहाँ की सब सामग्री नीरस लगती थी। सुभौम चक्रवती ने विचार किया कि मैं अकेला जाऊँगा तो कितने फल खा सकूँगा? इसलिये कुटुम्ब सहित जाऊँ। चक्रवर्ती ने विशाल चर्मरत्न नामक नौका में स्त्री-पुत्रादि सहित समुद्र में प्रयाण किया। अब तो देव मन में अत्यंत प्रसन्न हो रहा था कि अकेले राजा को ही नहीं किंतु उसके समस्त परिवार को मैं डुबो दूँगा। उसे यह भी विचार आता था कि जिसके पास हजारों देव सेवक हैं, नवनिधि और चौदह रत्न हैं, उसे मार डालना कोई आसान काम नहीं है।

सुभौम चक्रवर्ती समुद्र की तरंगों पर तैरती हुई नौका में हास्यविलास करता हुआ सुख सागर में मस्त होता रहा था कि अचानक उस देव द्वारा चलाये गये भयंकर तूफान में नौका डोलने

लगी, चक्रवर्ती का हृदय काँपने लगा। उसने भयभीत होकर देव से पूछा कि अब बचने का कोई उपाय है ? पापी राजा को पाप का उदय और देव को दुष्टबुद्धि उत्पन्न होने से उसने कहा कि सागर के मध्य में दूसरा तो कोई उपाय नहीं है। हाँ, आप अनादिनिधन नमस्कार मंत्र, अपराजित मंत्र, जो णमो अर्हंताणं है, उसे जल में लिखकर पैर से मिटा दें तो सब बच सकते हैं।

बस, अनित्य में नित्य मानने की बुद्धि! चक्रवर्ती हित-अहित का विवेक छोड़कर तो घर से बाहर निकला ही था, अपने पास सर्व संपत्ति और अनुपम पुण्य का स्थान ऐसा चक्रवर्ती पद था, उसका विवेक भी खो दिया और अजान व्यक्ति का विश्वास करके ज्यों ही णमोकार महामंत्र लिखकर पैर से मिटाने लगा त्यों ही पाप का रस अति तीव्र होने लगा और नौका डूबने लगी। तब पूर्व का बैरी देव कहने लगा कि 'मैं वही रसोइया हूँ जिसके ऊपर आपने गरम-गरम खीर डाली थी और जिसने तड़प-तड़प कर प्राण दे दिये थे। आर्त्तध्यान से मैं व्यंतर जाति का देव हुआ हूँ। अवधिज्ञान के द्वारा पूर्वभव का बैर याद आने पर उसका बदला लेने के लिये ही यह उपाय किया है।'

अब पश्चात्ताप करने से क्या होता! चक्रवर्ती भी वह अपमानजनक शब्द सुनकर तथा कुटुम्ब-परिवार सहित अपना घात देखकर तीव्र संक्लेश भाव से मरण को प्राप्त हुआ और सातवें नरक में गया कि जहाँ असंख्यात असंख्य वर्षों का एक सागर, ऐसे ३३ सागरोपम वर्षों का आयुष्य है। अपने असली स्वरूप को भूल जानेरूप तीव्र मोह के कारण यह जीव वहाँ महान दुःख को भोगता है।

ज्ञानी निष्कारण करुणा से संबोधन करते हैं कि—अनंतानंत काल में महान दुर्लभ मनुष्यत्व का अवसर पाने पर भी जो विषयों में लीन रहते हैं, वे राख के लिये रत्न को जलाते हैं। आधी आयु तो निद्रादि प्रमाद में, कुछ पाप में और जो समय शेष रहता है, उसमें कदाचित् कुधर्म को धर्म माननेवालों के पास जाये तो वहाँ मिथ्या मान्यता दृढ़ करके जीवन बर्बाद कर देते हैं। उपरांत इन्द्रियों का दासत्व, व्यसनों की गुलामी (बीड़ी, तम्बाकू आदि भी व्यसनों में गर्भित हैं), मिथ्यात्व तथा मानादि कषाय द्वारा जीव हित-अहित का भान भूल जाता है।

जो लौकिक सज्जनता का भी ध्यान न रखे, अभक्ष्य भक्षण, अन्याय, अनीति, द्रव्य-भाव हिंसा, झूठ बोलना, पर की निन्दा आदि पाप भावों से न डरे, स्वच्छन्द वर्तन करे तो दुर्लभ अवसर खोकर वह मात्र पाप को ही बाँधनेवाला होता है।

मिथ्यात्व और क्रोध, मान, माया, लोभादि कषाय की प्रवृत्ति से क्षण-क्षण में जो अपना

भयानक भावमरण होता है, उससे बचने के लिये प्रथम तो सत्समागम से निर्मल तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

सच्चा सुख अंतर में है, उसको भूलकर दु:ख को ही सुख माननेरूप झूठे उपाय द्वारा यह जीव अनादि से दु:ख को ही भोगता है, इसलिये हे जीव! पुन: पश्चात्ताप करने का समय न आये, ऐसे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न कर! प्रयत्न कर!! इससे शुद्ध स्वरूप में रुचि होगी, और विषय-कषाय आदि पाप स्वयमेव नश्ट होने लगेंगे।

'तुं रुचतां जगतनी रुचि आलसे सौ,
तुं रीझतां सकल ज्ञायक देव रीझे॥'

मोक्षमार्ग के आदि-मध्य-अन्त में

निश्चय (स्वाश्रित) श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता ही कार्यकारी है

(श्री समयसार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार, गाथा ३९० से ४०४ पर, पूज्य गुरुदेव के प्रवचन)

तारीख ११-८-६३

भावार्थ—आत्मा ज्ञानस्वभावी है, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से भिन्न है और अपने ज्ञानादिस्वभाव से अभिन्न है। यहाँ ऐसा बतलाया है कि आत्मा का निर्दोष लक्षण ज्ञान-दर्शनमय उपयोग है और उपयोग में ज्ञान प्रधान है; क्योंकि ज्ञान लक्षण से ही आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न अतीन्द्रिय ज्ञानमय अनुभवगोचर होता है। ज्ञानमात्र कहो या अनंत गुणों का पिण्ड आत्मा कहो, वह सब एक ही है। धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से ही होता है। पहले से ही संयोग, विकार (पुण्य-पाप शुभाशुभराग) और व्यवहार का आश्रय श्रद्धा में से छोड़कर अनादि-अनंत पूर्ण ज्ञानघन स्वभाववान मैं आत्मा हूँ—ऐसा निश्चय करके उसमें निर्विकल्प अनुभव करना, सो निश्चय सम्यग्दर्शन है। यहाँ यह कहा है कि सम्यग्दर्शन ही आत्मा है।

जो ज्ञान रागमिश्रित खण्ड-खण्ड हो रहा था, वही ज्ञान समस्त भेदों को गौण करनेवाले शुद्धनय के द्वारा पूर्ण ज्ञानघन मेरा आत्मा है, ऐसे स्वसंवेदन से आत्मा की प्रसिद्धि करता है—आत्मा को जानता है—अनुभव करता है; वह ज्ञान आत्मा ही है। शास्त्र में ज्ञान नहीं है। स्वरूपाचरण-चारित्र-उपयोग और अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द में लीनतारूप चारित्र आत्मा ही है; क्योंकि दर्शन-ज्ञान-चारित्र में आत्मा ही रहता है। आत्मा का वेदन होकर अंतर में निर्मल विकास हुआ, सो वह ज्ञान ही आत्मा है। बाह्य में जो ग्यारह अंग का ज्ञान होता है, वह ज्ञान नहीं है, किंतु स्वाश्रय से विकसित ज्ञान ही आत्मा है।

संवत् १९८२ में प्रश्न हुआ था कि—वर्तमान में कितने सूत्र (जिनागम शास्त्र) विद्यमान हैं? उसके उत्तर में कहा था कि—वर्तमान में भरतक्षेत्र में सम्यग्दृष्टि जीव के स्वावलम्बी ज्ञान का जितना विकास हो सकता है, उतने सूत्र वर्तमान में विद्यमान हैं और उतना ही आगमज्ञान है, शेष विच्छेदरूप समझना चाहिये।

शास्त्र में क्या लिखा है—इसका निश्चय स्वावलम्बी ज्ञान के बिना कौन करेगा? विकल्प में, शुभराग में ऐसी शक्ति नहीं है; शास्त्र के शब्दज्ञान में भावज्ञान की शक्ति नहीं है कि जिससे सम्यग्ज्ञान प्रगट कर सके; किंतु स्वद्रव्य के आलम्बन से भेदज्ञानपूर्वक जितना ज्ञान का विकास हुआ, उतना अंग-पूर्वगत ज्ञान वर्तमान में विद्यमान है।

निज शुद्धात्मा के आश्रयरूप निर्विकारदशा उत्पन्न हुई, निर्मल पर्याय हुई, उतना सम्यग्ज्ञान-चारित्र है। यहाँ ज्ञान को प्रधान करके ही आत्मा का अधिकार है। यद्यपि आत्मा में अनंत धर्म और अनंत गुण हैं, तथापि उनमें के कितने तो छद्मस्थ को गोचर ही नहीं हैं, इसलिये उन धर्मों द्वारा अल्पज्ञ प्राणी आत्मा को किसप्रकार पहिचानेगा? तथा कुछ धर्म स्पष्ट अनुभवगोचर हैं; उनमें से अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि कुछ तो अन्य द्रव्यों में भी हैं, इसलिये उनके द्वारा आत्मा को पर से भिन्न नहीं जाना जा सकता। और कुछ पर्यायधर्म परद्रव्य के सम्बन्ध से हुए हैं; उनके द्वारा परमार्थभूत आत्मा का शुद्धस्वरूप कैसे ज्ञात होगा? इसलिये ज्ञान द्वारा ही आत्मा लक्षित हो सकता है। दया, दान, पूजा, भक्ति के शुभराग से आत्मा लक्ष में नहीं आता; क्योंकि कषाय की मंदता में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह चैतन्यमूर्ति आत्मा को ग्रहण कर सके। जिसे शुभरागरूप व्यवहार -रत्नत्रय कहा जाता है, वह भी आस्रवतत्त्व है, अनात्मभाव है, चैतन्य की जागृति को रोकनेवाला अजागृत भाव है। इसलिये शुभभाव कारण और वीतरागभाव कार्य—ऐसा तीन काल में नहीं हो

सकता। मात्र निमित्तपना बतलाने के लिये उपचार से साधन कहने की रीति है। भूमिकानुसार इतना वीतरागभाव हो, वहाँ निमित्त में ऐसा होता है—ऐसा जानना, सो व्यवहारनय का प्रयोजन है।

ज्ञानी को भूमिकानुसार शुभभाव आता है, किंतु जिन्हें भेदविज्ञान नहीं है, वे ऐसा मानते हैं कि—प्रथम आहारशुद्धि करें तो मनशुद्धि होगी और तब आत्मा का ज्ञान होगा। उन्हें तो प्रथम धर्म क्या है, उसकी भी खबर नहीं है। आत्मा शुद्ध-अशुद्ध आहार ग्रहण नहीं कर सकता किंतु उस संबंधी राग कर सकता है। धर्म के नाम पर भले ही चाी जितने शुभराग की क्रिया करे, किंतु **किसी भी व्यवहार संबंधी शुभराग में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि जिसके द्वारा शास्त्रों का सच्चा अर्थ समझा जा सके;** किंतु शुद्धनय का प्रयोजन समझकर भेदज्ञान करे तो स्वोन्मुख हुआ जा सकता है। 'सब आगम भेद सु उर बसै' इसप्रकार तत्त्व विचाररूप उद्यमपूर्वक प्रगट होनेवाले स्वसन्मुख ज्ञान में ही ऐसी शक्ति है कि वह सत्य-असत्य का निर्धार कर सकता है।

मन के संग से जो शुभराग होता है, उससे भी आत्मा की प्रतीति नहीं हो सकती। किंतु जो आत्मा का अनुसरण करे, ऐसे ज्ञानलक्षण द्वारा परमार्थभूत आत्मा को जाना जा सकता है। यहाँ ज्ञान को आत्मा कहा है, क्योंकि अभेद अपेक्षा से गुण-गुणी अभेद होने से ज्ञान ही आत्मा है, इसलिये ज्ञान कहो या आत्मा कहो, उसमें कोई विरोध नहीं है। पराश्रय की बुद्धि छोड़कर स्व-सन्मुखता के बल से भगवान आत्मा को ध्येयरूप से ग्रहण करके ज्ञान लक्षण द्वारा पूर्ण विज्ञानघन आत्मा को जाना कि—यह मैं हूँ, सो ज्ञानस्वरूप आत्मा ही है; इसप्रकार प्रथम श्रद्धा में निर्विकल्प अनुभव होना, सो सर्वप्रथम धर्म है।

प्रथम उपाय में ही पर से भिन्न, राग के पक्ष से भिन्न ज्ञानमात्र अर्थात् निमित्त और राग के मिश्रण रहित अकेला ज्ञानस्वरूप आत्मा, सो मैं हूँ—ऐसा निर्णय करने के लिये तत्त्वविचार में उद्यमी होने का उपदेश है; उससे कहा है कि—जिससे यथार्थ उपदेश प्राप्त हो, ऐसे जिनवचन का श्रवण करना चाहिये, और उसमें ग्रहण क्या करना चाहिये कि शुद्धनय के विषय को ग्रहण करना चाहिये। किसी भी प्रकार का राग आश्रय करनेयोग्य नहीं है। पर से लाभ-हानि नहीं है, किंतु अपने भाव से अपना भला-बुरा हो सकता है। प्रथम अपनी विकारी पर्याय को भी पर से भिन्न स्वतंत्र सत्‌रूप से स्वीकार करने को कहते हैं कि—पर्याय में भी पर से भिन्न और अपने त्रैकालिक भावों से अभिन्न आत्मा को जानना चाहिये; वहाँ से भिन्न कहने का तात्पर्य यह है कि—वर्तमान अशुद्ध पर्याय भी तेरे द्वारा स्वतंत्ररूप से की गई—सत् है। काल के कारण, जड़कर्म के कारण, संयोग के

कारण राग-द्वेष, सुख-दुःख या भूल नहीं है। पर के कारण मेरा कार्य नहीं है, ऐसा निर्णय करने के बाद क्षणिक विकार, अपूर्ण पर्याय जैसा और जितना मैं नहीं हूँ; मैं तो त्रिकाल निर्मल ज्ञानानन्द से परिपूर्ण हूँ, इसप्रकार स्वसन्मुख ज्ञान द्वारा भावभासन हो सकता है कि मेरा ध्रुव अखण्ड ज्ञायक स्वभाव विभाव से पृथक् है, मेरे में अपार सामर्थ्य है—और ऐसी प्रतीति गृहस्थदशा में भी की जा सकती है। निमित्त-व्यवहार और गुण-गुणी के भेद का आश्रय छोड़कर स्वरूप के आलंबन से निर्विकल्प सम्यग्दर्शनरूपी धर्म का प्रारम्भ हो सकता है। सम्यग्दर्शन का ध्येय त्रैकालिक द्रव्य-गुण और शक्तिरूप-ध्रुवशक्तिरूप अखंड वस्तु है; उसमें तथा उसके आश्रय से तो मिथ्यात्व, पुण्य-पाप विकार की उत्पत्ति ही नहीं। द्रव्यस्वभाव ही चैतन्यमय निर्मल पर्याय का कारण है किंतु पुण्य-पापरूप विभाव का कारण नहीं है और उसके आश्रय से विकसित साधकभाव भी विभाव का कारण नहीं है। अपने चैतन्यभाव की अप्रतीति—विभ्रम ही मिथ्यात्वरूपी संसार का कारण है।

टीका के अंत में ऐसा कहा है कि—जो अपने अपराध से अपनी पर्याय में अनादि अज्ञान से होनेवाली शुभाशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति को प्रथम निर्मल श्रद्धा-ज्ञान द्वारा दूर करके अर्थात् अपने को निश्चय सम्यग्दर्शनादिरूप से परिणमित करके अनात्मा (आस्रव) के अभावस्वभावरूप से अपना अनुभवन करके स्वावलम्बी क्रिया, उसका नाम परसमय से-परभाव से निवृत्तिस्वरूप और स्वसमय में (निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति में) प्रवृत्तिरूप धर्म है; उसके द्वारा पूर्ण विज्ञानघन स्वभाव की प्राप्ति होती है।—इसप्रकार पहले से ही ऐसा आत्मा ज्ञानलक्षण द्वारा प्रतीति सहित अनुभव में आता है।

जड़कर्म मार्ग दे तो शुद्धात्मा की प्राप्ति हो; दर्शनमोह कर्म दूर हो तो धर्म हो—ऐसा नहीं है। अमुक संयोग, अमुक काल और जहाँ तीर्थंकर भगवान विराजमान हों, वह क्षेत्र मिले तो आत्मा को धर्म हो-ऐसा नहीं है। निमित्त की प्रतीक्षा नहीं करना पड़ती। नित्य ज्ञायक के लक्ष से स्वाश्रय की दृष्टि से जागृत हुआ, वहाँ सर्व समाधानरूप अपना आत्मा ही अपने को ध्रुव शरणरूप भासित होता है। चैतन्य के स्वरूप में विवाद नहीं है; स्वरूप की रुचि और स्थिरता के लिये परावलम्बन की अपेक्षा नहीं है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणामस्वरूप मोक्षमार्ग है, वह स्वसमयरूप परिणमन प्राप्त करके, जिसमें कोई ग्रहण-त्याग नहीं है, ऐसे साक्षात् समयसाररूप, परमार्थरूप, ज्ञानानन्द अकेला आत्मा प्राप्त की प्राप्तिरूप होता है।

विज्ञानघन स्वभाव में तथा उसके अनुभवन में मैं विज्ञानघन हूँ—ऐसा विकल्प नहीं है। उसमें पर का अथवा रागादि का ग्रहण-त्याग नहीं है तथा स्वरूप को ग्रहण करूँ, ऐसा विकल्प भी नहीं है। यह सर्वविशुद्धज्ञान का अधिकार है, वह विशेष स्पष्टरूप से समयसार (शुद्धात्मा) को बतलाता है।

द्रव्य, गुण तो नित्य शुद्ध है, किंतु शुद्धदृष्टि द्वारा भेद को गौण करके सामान्य एकरूप स्वभाव का आश्रय किया जाये, फिर प्रगट पर्याय में विशेष शुद्धतारूप परिणमन द्वारा स्वरूप में निश्चल हुआ, तब चारित्र-अपेक्षा में भी साक्षात् समयसारस्वरूप, परमार्थरूप, निश्चल विद्यमान, शुद्ध, पूर्ण ज्ञान को (पूर्ण आत्मा को) देखना हुआ।

मोक्षमार्ग के आदि, मध्य, अंत (पूर्णता) में निश्चयश्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रतारूप आत्म-अवलोकन ही कार्यकारी है; वहाँ देखना तीन प्रकार से है:—

(१) शुद्धनय का ज्ञान करके पूर्ण विज्ञानघन आत्मा के स्वभाव का निश्चय करके स्वानुभूति द्वारा पूर्ण ज्ञानस्वरूप का श्रद्धान करना, वह पहले प्रकार का देखना है। मिथ्या अभिप्रायसहित, राग के आश्रयरहित, भेदज्ञान द्वारा पूर्ण ज्ञानघन एकरूप वस्तु हूँ; उसमें उन्मुख होकर पूर्ण ज्ञानघन पर ध्येय रहना, वह शुद्धनय द्वारा निर्विकल्प देखना तो अविरति आदि दशा में भी होता है। निश्चयमोक्षमार्ग के लिये व्यवहार आवश्यक है, ऐसा नहीं कहा। प्रथम निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, तप, संयम, प्रतिमा आदि नहीं होते। तीनों काल आटा, घी और गुड़ से ही कसार बनता है, कहीं मिट्टी, मूत्रादि से कसार नहीं बनता; उसीप्रकार किसी भी प्रकार का राग, वह वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग नहीं है, किंतु विरुद्धभाव है। इसलिये शुभरागरूप व्यवहार व्रतादि से निश्चयमोक्षमार्ग नहीं होता—ऐसा नियम अनेकांतसिद्धांत है। शुभराग आये—हो, वह अलग बात है और उससे धर्म होता है, ऐसा मानना वह अलग बात है। पुण्य-शुभराग-निमित्त उनके काल में होते हैं, उनका निषेध नहीं है किंतु उनसे धर्म माननेरूप विपरीत मान्यता का निषेध सच्ची प्रतीति के लिये है।

भेदज्ञानपूर्वक शुद्धनय द्वारा अखंड ज्ञानानंदस्वरूप पर दृष्टि करने से ही निर्मल श्रद्धा-ज्ञान और अतीन्द्रिय आनंद में लीनतारूप मोक्षमार्ग प्राप्त होता है, उससे विरुद्ध अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। ज्ञानी को निचली दशा में दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रतादि के शुभभाव होते हैं, उसप्रकार का राग वहाँ निमित्तरूप से होता है, किंतु वह वीतरागभाव को उत्पन्न करे, ऐसा कभी नहीं होता। संयोग

और राग की रुचिवाला मानता है कि व्यवहार चाहिये, निमित्त चाहिये, वे हों तो निश्चय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र होते हैं—इसप्रकार उनकी दृष्टि में महान अंतर है। संयोग और राग की रुचि होने से वह जीव आत्मा का तिरस्कार करता है; आस्रव की अर्थात् संसार की भावना भाता है। पहले व्यवहार होना चाहिये, ऐसा माननेवाले को बहिरात्मा क्यों कहा है ?—क्योंकि वह व्यवहारनय के कथन को निश्चयनय का कथन मानता ही है, लक्ष्यार्थ को नहीं समझता।

दान तो देना चाहिये न ?—दान देने का शुभभाव ज्ञानी को भी होता है, किंतु स्वयं को स्वरूप का—निर्मल परिणति का दान देना चाहिये, वह कभी नहीं दिया है। राग की क्रिया का अहंकार अनंतबार किया है। त्रैकालिक वीतरागघन स्वरूप में वीतरागी दृष्टि और शांति का देना-लेना - ऐसा दान कभी दिया-लिया नहीं है। साक्षात् भगवान की धर्मसभा में (समवसरण में) बैठा हो, तथापि शुभराग करने योग्य है, निमित्त से कार्य हो सकता है—ऐसी कर्तृत्व की श्रद्धा है तो उसका सारा वर्तन मिथ्यादर्शन से भरपूर है। ज्ञानी को तो श्रद्धा-ज्ञान में निरंतर सर्व समाधान की अस्ति और विरोध की नास्तिरूप से स्वाश्रय का बल वर्तता ही रहता है। फिर विशेष पुरुषार्थ द्वारा छट्ठे-सातवें गुणस्थानवर्ती जीव का ज्ञानानंद में देखना है।

(२) दूसरे प्रकार से ज्ञानस्वभाव का देखना किसप्रकार होता है ?—कि भूतार्थस्वभाव में विशेष सावधानरूप से वर्तते हुए बाह्य सर्व परिग्रह का त्याग करके पूर्ण ज्ञानानंदस्वरूप में एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिये, उपयोग को ज्ञानघन आत्मा में ही स्थिर करना चाहिये। जैसा शुद्धनय से अपने पूर्ण स्वरूप को सिद्ध परमात्मा समान जाना, श्रद्धा की थी, उसीप्रकार ध्यान में लेकर चित्त को एकाग्र-स्थिर करना चाहिये, बारम्बार उसी का अभ्यास करना चाहिये, वह दूसरे प्रकार का देखना है।

(३) सातिशय पुरुषार्थ द्वारा ज्ञानस्वभाव के उग्र आलंबन के बल द्वारा पूर्ण एकाग्र होने से पूर्ण ज्ञान का सर्व प्रकार से साक्षात् देखना होता है, मोक्षमार्ग के आदि-मध्य और पूर्णता में कहीं भी निमित्त द्वारा-शुभ व्यवहार द्वारा देखने को नहीं कहा है। स्वाश्रयी दृष्टि, ज्ञान और एकाग्रता को ही शुद्धस्वरूप को प्राप्त करने की रीति कहा है, वहाँ व्यवहार को याद नहीं किया है। मात्र वह यथापदवी जानने योग्य है। कोई कहे कि—क्या व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ है ?—तो कहते हैं कि भाई! भगवान ने तो निश्चयनय को सत्यार्थ कहा है, व्यवहार के स्थान में व्यवहार भले हो, उसका निषेध नहीं है, किंतु उसके आलंबन से राग की उत्पत्ति होती है, ऐसा जानना चाहिये। एक

पंडितजी कहते थे कि हमारी दृष्टि तो ऐसी थी कि निमित्त से-राग से भी लाभ होता है; इसलिये जब शास्त्र में निश्चय की बात आती थी, तब हम उसे छोड़ देते थे और जब व्यवहार-निमित्त की बात आती थी, तब उसका विस्तार करते थे। किंतु दिगंबर संत और प्राचीन पंडितों ने तो स्पष्ट बतलाया है कि व्यवहारनय के आश्रय का फल संसार है—यह बात हम नहीं समझे थे।

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं विभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथा वस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्त सहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति॥२३५॥

अर्थ—अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने में ही नियत, पृथक् वस्तुपने को धारण करता हुआ (सामान्य द्रव्य, गुण और विशेष में कार्यरूप पर्यायों से स्वतंत्र वस्तुस्वरूप को वस्तु कहते हैं) पर के ग्रहण-त्याग से रहित, रागादि मलरहित ज्ञानस्वरूप है, वह स्वावलम्बी ज्ञान द्वारा अवस्थित (निश्चल) रूप से अनुभव में आता है। सामान्य वस्तु में तो पर का ग्रहण-त्याग नहीं है किंतु पर्याय में तो था न? नहीं; पर्याय में अर्थात् प्रगट दशा में अज्ञानभाव से पर का ग्रहण-त्याग मानता था, वह स्वालम्बी ज्ञान द्वारा मिथ्याभाव से छूटकर एकाग्रता का अभ्यास बढ़ने पर चारित्र में परम विशुद्धता प्रगट करने से जीव साक्षात् सर्वविशुद्ध कृतकृत्य होता है और शुद्ध ज्ञानघनरूप उसकी महिमा ज्यों की त्यों सदा उदयमान रहती है।

ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का आत्मा में धारण करना ही ग्रहण करने योग्य सर्व का ग्रहण और त्यागने योग्य सर्व का त्याग है। पर से—रागादि से उपेक्षा, सो त्याग और अभेद पूर्णस्वरूप की अपेक्षा, सो ग्राह्य का ग्रहण है। प्रथम श्रद्धा में और पश्चात् क्रमशः चारित्र में स्वाश्रय के बल से यह सब हो जाता है। अपने को भूलकर श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-वीर्यादिशक्ति पराश्रय में परोन्मुख में रुकती थी, उस सर्व शक्ति को स्वोन्मुख करके—स्व में एकाकार करके ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होते थे, उन्हें जाना, ज्ञेयों के आश्रय से ज्ञान में खंड-खंड होना छोड़कर अखंड ध्रुवधाम में, पूर्ण विज्ञानघन में एकाग्रता से अपनी सर्वशक्ति को लीन किया, वही कृतकृत्यता है।

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं; द्रव्य के संपूर्ण भाग में और उसकी सर्व अवस्थाओं में स्थित हो, उसे गुण कहते हैं। आत्मा भी अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र, वीर्य, प्रभुत्व, स्वच्छत्व, अस्तित्व आदि अनंत गुणों का पिण्ड है; उसे शुद्धनय द्वारा अनुभव में ग्रहण करना, पूर्णज्ञानघन

आत्मा को आत्मा में धारण करना, वह कृतकृत्यपना है। स्वामित्व की अपेक्षा से श्रद्धा में चतुर्थ गुणस्थान से और क्रमशः चारित्र में तेरहवें गुणस्थान में; इसप्रकार सर्वविशुद्धज्ञान पूर्ण होता है।

अब आचार्यदेव कहते हैं कि—आत्मा सदा ज्ञानस्वरूपी है; अतीन्द्रिय ज्ञानशरीरी है, ऐसे ज्ञान के पुद्गलमय देह ही नहीं है—इस अर्थ का श्लोक नं० २३७ कहते हैं:—अर्थ-इसप्रकार (पूर्वोक्त रीति से) ज्ञान, परद्रव्य से पृथक् अवस्थित (-निश्चल रहा हुआ) है; वह (ज्ञान) आहारक (अर्थात् कर्म-नोकर्मरूप आहार करनेवाला) कैसे हो सकता है कि जिससे उसके देह की शंका की जा सके? (ज्ञान के देह हो ही नहीं सकती क्योंकि उसके कर्म-नोकर्मरूप आहार ही नहीं है)

प्रश्न-आत्मा द्रव्यदृष्टि से या पर्यायदृष्टि से पर का ग्रहण-त्याग नहीं करता, न खाता है, न पीता है, किंतु व्यवहार से पर्याय में तो पर का कार्य कर सकता है न?

उत्तर-नहीं, व्यवहार तो अंशतः सराग और वीतराग के भेद रूप है, जो भूमिका के योग्य होता है; वहाँ इसप्रकार का राग आता है, उसमें निमित्त कौन होता है, वह बतलाने के लिये मुनि को आहार-जल ग्रहण करने का राग हो तो ऐसा राग आता है; अतः राग को बतलाने का यह कथन है; किंतु पर का कार्य आत्मा कर ही नहीं सकता, क्योंकि आत्मा सदा अमूर्तिक ही है। इसप्रकार (पूर्वोक्त रीति से) ज्ञान, परद्रव्य से पृथक् अवस्थित है; व्यवहारनय तो परद्रव्य को स्वद्रव्य और पर के कारण-कार्यादि को जीव के कहता है, उसमें ज्ञानी रहता ही नहीं। ऐसे ज्ञान को (आत्मा को) आहार अर्थात् कर्म—आठ कर्म, नोकर्म अर्थात् शरीर—अन्न आदि का आहार कैसे होगा कि जिससे उसको देह की शंका की जा सके? (ज्ञान को देह नहीं हो सकती, क्योंकि उसके कर्म-नोकर्म आहार ही नहीं है)।

मैं आत्मा त्रिकाल ज्ञायकज्योति हूँ, परद्रव्य से पृथक् हूँ और ज्ञायकस्वरूप में अवस्थित हूँ;—ऐसी जिससे प्रतीति हुई है, वह चारित्र वैभवसहित जानता है कि—अहो! आत्मा तो ज्ञानमय है, उसके देह और कर्म-नोकर्म का संबंध कैसे हो सकता है? यहाँ किसी को प्रश्न हो कि कब नहीं हो सकता, केवली भगवान हो जाये तब न?—तो कहते हैं कि नहीं, वर्तमान पर्याय में ही शुद्धज्ञानघन के आश्रय से निर्मल श्रद्धा-ज्ञान हुआ, तभी से भोजन और तत्संबंधी राग का कर्ता नहीं है, स्वामी नहीं है, कर्म-नोकर्म का संबंध नहीं है। आत्मा व्यवहार से भी भोजन अथवा पर का ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता, किंतु ऐसा राग आता है। मुनि को भोजन की वृत्ति आती है किंतु उसका ग्रहण-त्याग अपने को है, ऐसा वे नहीं देखते।

शास्त्र में निमित्त से कथन आता है कि मुनि, मोक्षमार्ग की साधना करते हैं; उसमें निमित्त होनेवाला नवधभक्ति सहित आहारदान का दाता है, वह धन्यवाद का पात्र है। मोक्षमार्ग में मुनि का शरीर निमित्त है; शरीर को आहार निमित्त है; जिसने मुनि का आहार दिया, उसने मुनि को मोक्ष दिया—यह सब आरोपित व्यवहार के कथन हैं। सम्यग्ज्ञानी नयविभाग द्वारा जहाँ जो जैसा हो, वैसा जानता है।

★

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—शुभभाव शुभास्रव होने से उसे पुण्य ही कहना चाहिये किंतु उसे पाप किस अपेक्षा कहा है? पुण्य और पाप दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

उत्तर—समयसार गाथा ३८७ से ३८९ टीका में उसे विष वृक्ष कहा है तथा गाथा १६१ से १६३ पुण्य-पाप अधिकार श्री जयसेनाचार्य कृत टीका में निश्चय से पाप कहा है। कहा है कि—'पापाधिकार व्याख्यान की मुख्यता से गाथा पूर्ण हुई।' प्रश्न—जीवादि श्रद्धान इत्यादि व्यवहाररत्नत्रय व्याख्या किया, वह पाप अधिकार कैसे ठहरता है? उसका समाधान—यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्ग, निश्चयरत्नत्रय जो उपादेयभूत है, उसका निमित्तभूत होने से उपादेय है, परम्परा जीव को पवित्रता में कारण होने से (व्यवहार से) पवित्र है, किंतु बाह्य द्रव्य के आलंबनपने से, पराधीनत्व होने से जीव को वह पतन का नाश का एक कारण है। निर्विकल्प समाधिरत जीवों को व्यवहार विकल्पों के आलंबन से स्वरूप से पतन-च्युत होना होता है, यह दोष का दूसरा कारण है, इसप्रकार निश्चयनय अपेक्षा (व्यवहारमोक्षमार्ग) पाप है।

समयसार गाथा १४५ में कहा है कि जो प्राणी को संसार में ही प्रवेश कराता है, वह शुभभाव अच्छा कैसे हो सकता है? बाद शुभ और अशुभ को एक ही शूद्रीका के पुत्र की उपमा देकर हेतु, स्वभाव-अनुभव और आश्रय पुण्य-पाप में एक ही है, ऐसा स्पष्ट कहा है, दोनों ही कर्म

बंध के कारण हैं। यह बात आगम से साधते हैं, ऐसा गाथा १५० की सूचनिका में कहा है। प्रवचनसार, तिलोयपण्णति भा० २, पृष्ठ ८७९ में कहा है कि पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है उसप्रकार जो नहीं मानता है, वह मोह से युक्त होता हुआ घोर एवं अपार संसार में घूमता है।

श्री योगीन्द्रदेव कृत योगसार दोहा में नं० ७१-७२ में भी कहा है कि—

पाप रूप को पाप तो, जानत जग सहु कोई,
पुण्यतत्त्व भी पाप है, कहत अनुभवी कोई॥७१॥
जैसे बेड़ी लोहकी, त्यों सोने की जान।
करे शुभाशुभ दूर जो, ज्ञानी मर्म जु जान॥७२॥

ऐसा तात्विक निरूपण सुनकर लोग स्वच्छंदी हो जायेंगे—ऐसा कहकर अध्यात्मोपदेश—द्रव्यानुयोग के उपदेश का निषेध न करना चाहिये। स्व० आचार्यकल्प श्री टोडरमलजी ने कहा है कि जैसे मेघवृष्टि होने पर बहुत जीवों का कल्याण होता है परंतु किसी को नुकसान मानकर उसका निषेध नहीं करना चाहिये।

'मिश्री खाने से गधा मर जाये तातैं मनुष्य कहीं मिश्री खाना छोड़े नहीं' वैसे कोई अविवेकी उल्टा ही अर्थ को ग्रहण करे, उस बात को सुनकर विवेकीजन तत्त्वज्ञान का श्रवण-ग्रहण धारण और अभ्यास को छोड़े नहीं।

अध्यात्म शास्त्र में जगह-जगह पापरूप स्वच्छंदी होने का निषेध किया है। मिथ्यादृष्टि को पुण्य तो व्यवहार से भी पुण्यतत्त्व नहीं है कारण कि उसे मिथ्यात्व आदि महापाप का ग्रहण और स्वधर्म त्यागलक्षण अधर्म निरंतर है।

कोई स्थान पर पुण्य-पाप सहित नवपदार्थ भी कहा है, वे पुण्य-पाप भी आस्रवादिक के ही भेद हैं, इसलिये वे सात तत्त्वों में ही गर्भित हुए। पुण्य-पाप का श्रद्धान होने पर पुण्य को मोक्षमार्ग न माने वा स्वच्छंदी होकर पापरूप प्रवर्तन न करे; इसलिये मोक्षमार्ग में उसका श्रद्धान भी उपकारी जानकर पुण्य-पाप वे दो तत्त्व विशेष मिलाकर नव पदार्थ कहा है। श्री समयसारजी में भी स्वच्छंद वृत्तिवालों को चुनौती दी है कि जहाँ भावलिंगी मुनि के शुभभावरूप प्रतिक्रमणादिक को भी निश्चय से विषकुंभ कहा है तो अशुभभाव सुधा कैसे हो सकते हैं ?

प्रश्न—व्यवहाररत्नत्रय को परम्परा मोक्ष का कारण कैसे कहा है ? और उसका प्रयोजन क्या है ?

उत्तर—अज्ञानी को तो वे शुभभाव सर्व अनर्थ परम्परा का कारण कहा है। समस्त राग के प्रति ज्ञानी को हेयबुद्धि है ही, किंतु शुभभाव भूमिकानुसार आते हैं और उसी जाति के शुभभाव को नष्ट करके वे मोक्ष जायेंगे, किंतु अन्यमती कल्पित १५ भेद आदि विरुद्ध जाति के व्यवहार निमित्त हो, या अज्ञान-मिथ्यात्व-असंयम के व्यवहार हो और मात्र उसे ही छोड़कर मोक्ष नहीं जायेंगे, ऐसा ज्ञान कराने के लिये उसे परम्परा कारण कहा है। सर्वज्ञ वीतराग कथित व्यवहार कैसा होता है, जिसे उपचार से साधक-सहचर संज्ञा दी जाती है। उसका ज्ञान करना उसका नाम व्यवहारनय का प्रयोजन है। पुण्य का-शुभराग का निषेध नहीं है, किंतु प्रथम से ही मिथ्यामान्यता का निषेध है। निमित्त-व्यवहार शुभभावरूप पुण्य भूमिकानुसार आते हैं, उसको उसरूप जानने का निषेध नहीं है, किंतु उसे मोक्षमार्ग मानने का, हितकर मानने का निषेध है। कारण कि हेय-उपादेय, हित-अहित के स्वरूप का अज्ञान ही सबसे बड़ा पाप है।

समयसार, गाथा २०० में कलश नं० १३७ के भावार्थ में स्व० पंडित श्री जयचंदजी ने निम्नप्रकार कहा है।

यहाँ कोई पूछे कि व्रत, समिति तो शुभकार्य है, उनको पालने पर भी पापी क्यों कहा? उसका समाधान—सिद्धांत में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है। जहाँ तक मिथ्यात्व रहता है, वहाँ तक शुभाशुभ सभी क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थ कर पाप ही कहा है और व्यवहारनय की प्रधानता में व्यवहारी जीवों को अशुभ छुड़ाके शुभ में लगाने को किसी तरह पुण्य भी कहा है।

[शुभभाव की मर्यादा समझने के लिये देखो सैद्धांतिकचर्चा लेख नं० ९ आत्मधर्म अंक नं० २२५]

सैद्धांतिक चर्चा

लेख नं० ११

३६३—**प्रश्न ५**—क्या व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ, सर्वथा त्याज्य है या वह सत्यार्थ एवं उपादेय भी है ?

उत्तर—यह प्रश्न चारों अनुयोग का विषय है क्योंकि सब वीतरागी शास्त्रों का यथार्थ अर्थ करने के लिये नय विभाग के ज्ञान की जरूरत है। इसलिये इन प्रश्नों का उत्तर देने के पहिले नय से संबंधित विवेचन की जरूरत है।

१—प्रश्न—नय क्या है ?

उत्तर—सम्यक् श्रुतज्ञान प्रमाण के अवयव को (अंश को, विकल्प को) नय कहते हैं 'नय' का धातु अर्थ नी=नय अर्थात् 'अपने ज्ञान को वस्तु के यथार्थ स्वरूप की तरफ ले जाना, वस्तु के सर्वांश का (सकल देश के) ग्राहक 'प्रमाण' है, एक देश ग्राहक 'नय' है।

२—प्रश्न—मिथ्यादृष्टि को नय होता है ?

उत्तर—मिथ्यादृष्टि का श्रुतज्ञान मिथ्या होने से उसको सच्चा नय नहीं होता, उसके श्रुतज्ञान के अंश को कुनय कहते हैं।

३—प्रश्न—नय का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—नय का तात्पर्य ऐसा है कि वस्तु अनेक धर्मोंवाली है, उसमें से **किसी धर्म की मुख्यता कर अविरोध रूप से साध्य पदार्थ को जानना, यह नय का तात्पर्य है।**

४—प्रश्न—क्या पहले अकेला व्यवहारनय होता है ?

उत्तर—नहीं, ऐसा नहीं होता, क्योंकि आगम का वचन ऐसा है कि '**निरपेक्षानयाः मिथ्याः सापेक्षवस्तु तेऽर्थ कृत**' (आप्तमीमांसा श्लोक १०८) निश्चयनय की अपेक्षासहित ही व्यवहारनय होता है, श्री समयसार गाथा ३०६-३०७ का भावार्थ पृष्ठ ४३७ में लिखा है कि '**निश्चयनय की अपेक्षा से युक्त ही व्यवहारनय मोक्षमार्ग में है, केवल व्यवहार का ही पक्ष मोक्षमार्ग में नहीं है' इसलिये पहिले अकेला व्यवहारनय होवे और बाद में निश्चयनय प्रगटे, यह मान्यता मिथ्या है।**

५—**प्रश्न**—जिनवाणी की पद्धति क्या है ?

उत्तर—नियमसार कलश २, पृष्ठ २ में कहा है कि **दो नयों के आश्रय से सर्वस्व कहने की जिनभगवन्तों की वाणी की पद्धति है।** भगवान का कथन एक नय के आश्रित नहीं होता, तथा पंचास्तिकाय, कलश ३, पृष्ठ २ में कहा है कि—**ऐसी दो नयों के आश्रित व्याख्या सम्यग्ज्ञानरूपी निर्मल ज्योति की जननी है।** शास्त्रों का अभ्यास होने पर भी जिसको सम्यग्ज्ञान न प्रगट हो, उसने जिनवाणी की पद्धति का तात्पर्य वास्तव में जाना नहीं।

दो नयों के नाम-निश्चयनय और व्यवहारनय ऐसा है। **ये दो नाम यह सूचित करते हैं कि इनका स्वरूप एक-दूसरे से विरुद्ध-प्रतिपक्षी है, जो ऐसा न हो तो पृथक्-पृथक् भाववाचक नाम 'नयों के' देने में नहीं आते।**

३६४—**६ प्रश्न**—नय ज्ञान की और भेदज्ञान की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—(१) जीव को अनादि से स्व-पर के एकत्वरूप श्रद्धा से मिथ्यादर्शन है, स्व-पर के एकत्वरूप ज्ञान से अज्ञान—(मिथ्याज्ञान) है और स्व-पर के एकत्वरूप आचरण से मिथ्याचारित्र है।

(२) सर्व दु:खों का मूलकारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है, इन सब दु:खों का अभाव करने के लिये दो प्रकार का भेदज्ञान करना चाहिये।

पहिले प्रकार का भेदज्ञान—जीव अपने गुणों और पर्यायों से एक है—अभिन्न है, तथा परद्रव्य, उसके गुणों और पर्यायों से अत्यंत भिन्न है। अर्थात् जीव स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल और स्वभाव से है और परद्रव्यों के द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से अत्यंत अभावरूप है—अत्यंत जुदा है। इसलिये इस अपेक्षा से परद्रव्यों, उनके गुणों और पर्यायों के साथ संबंध मात्र व्यवहारनय से संयोगरूप, निमित्तरूप है, ऐसा ज्ञान कराया है।

इस दृष्टि से परद्रव्यों के साथ का संबंध असद्भूत—असत्य होने से उस संबंध का ज्ञान करानेवाले 'नय' को व्यवहारनय कहने में आता है और जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय अपने होने से, पर से भिन्न बतानेवाले नय को 'निश्चयनय' कहने में आता है।

दूसरे प्रकार का भेदज्ञान—इतना ही ज्ञान करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं होता, क्योंकि अनादि से जीव की पर्याय अशुद्ध है, इसको अपने में होने की अपेक्षा से 'निश्चयनय' का विषय कहा है तो भी उसको द्रव्य के त्रिकाली शुद्ध स्वरूप से भिन्न बताने के लिये तथा गुणभेद और पर्याय

के आश्रय से राग उत्पन्न होता है इसलिये—गुणभेदों को, शुद्ध पर्यायों को तथा अशुद्ध पर्यायों को—उनका आश्रय छुड़ाने के लिये 'व्यवहार' (और अभूतार्थ) कहने में आता है। और जीवद्रव्य का त्रिकाली शुद्धस्वरूप जो कि ध्रुव है, उसको 'निश्चय' (और भूतार्थ) कहने में आता है, क्योंकि उसके आश्रय से ही धर्म की शुरुआत, उसका टिकना, उसकी वृद्धि और पूर्णता होती है।

(देखिये, श्री समयसार, रायचन्द्र ग्रंथमाला, जयसेनाचार्य टीका गाथा ५७, पृष्ठ १०१; गाथा १०२, पृष्ठ १६७, गाथा ११३ से ११५, पृष्ठ १७९ तथा गाथा १३७-१३८, पृष्ठ १९८) इसलिए नयों का स्वरूप बराबर समझने की आवश्यकता है।

३६५—**७ प्रश्न**—दोनों प्रकार का भेदज्ञान होना कब कहा जाता है?

उत्तर—दोनों प्रकार का भेदविज्ञान हुआ तब कहा जायेगा, जबकि जीव अपने ध्रुव ज्ञायकरूप भाव का आश्रय करके धर्म प्रगट करे। इसप्रकार अपूर्व धर्म जीव को अपने आश्रय से ही प्रगट होता है, उस समय श्रद्धागुण की जो शुद्धपर्याय प्रगट होती है, उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं, और ज्ञानगुण की जो शुद्धपर्याय प्रगट होती है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं, वह भावश्रुतज्ञान अवयवी है और सम्यक्नय उसका अवयव अर्थात् अंश है।

३६६—**८ प्रश्न**—व्यवहारनय का ज्ञान कराने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—जिसको सिंह का यथार्थ स्वरूप सीधी तौर से समझ में न आता हो, उसे सिंह के स्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा अर्थात् बिल्ली के स्वरूप के निरूपण द्वारा सिंह के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराने में आता है, इसप्रकार जो वस्तु का यथार्थ स्वरूप सरलता से न समझता हो, उसको वस्तु स्वरूप के उपचरित निरूपण द्वारा वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराया जाता है। इसलिये उसको परमार्थ का (निश्चयनय का) प्रतिपादक जानकर—स्थापन करने में आता है।

(१) ऐसा होने पर भी (व्यवहारनय और व्यवहारनय का विषय) आश्रय करने योग्य नहीं है। (देखिये, समयसार, गाथा नं० ८ टीक की अंतिम पंक्ति)

(२) इसके आश्रय से राग उत्पन्न होता है। (समयसार, गाथा ७ भावार्थ का दूसरा पेरेग्राफ)

(३) निर्विकल्पता नहीं होती।

(४) भगवान व्यवहारनय का आलंबन कराते हैं—ऐसा नहीं समझना चाहिये।

(समयसार, गाथा ८, भावार्थ की अंतिम पंक्ति)

(५) किंतु व्यवहारनय का आलंबन छुड़ाकर परमार्थ (निश्चयनय) का आलंबन कराते

हैं—ऐसा समझना चाहिये। इसलिये व्यवहार निषेध्य है और निश्चयनय उसका निषेधक है। (समयसार, गाथा २७२ की टीका)

३६७—**९ प्रश्न**—व्यवहारनय और निश्चयनय में विरोध आता है, तो उसे अविरोध कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार, गाथा ५८ से ६० तक की टीका, पृष्ठ ११० में कहते हैं कि 'जैसे व्यवहारीजन, मार्ग में जाते हुए किसी सार्थ (संघ) को लूटता हुआ देखकर, संघ की मार्ग में स्थिति होने से उसका उपचार करके 'यह मार्ग लूटता है' ऐसा कहते हैं, तथापि निश्चय से देखा जाये तो **जो आकाश के अमुक भागस्वरूप है, वह मार्ग तो कुछ नहीं लूटता,** इसीप्रकार भगवान श्री अरहंतदेव, जीव में बंधपर्याय से स्थिति को प्राप्त **कर्म और नोकर्म का वर्ण देखकर, कर्म-नोकर्म की जीव में स्थिति होने से, उसका उपचार करके 'जीव का यह वर्ण है' ऐसा व्यवहार से प्रगट करते हैं, तथापि निश्चय से, सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है।**

देखिये—यहाँ पर **विरुद्धपना कैसे मिटता है, यह बतलाया है।** लोग कहते हैं कि मार्ग लूटता है परन्तु मार्ग तो आकाश का एक भाग है, वह किसप्रकार लूट सकता है ? इसलिये यह उपचार कथन समझकर ऐसा अर्थ करना चाहिये कि 'मार्ग नहीं लूटता है परन्तु संघ को लुटता देखकर ऐसा कथन करने में आता है कि मार्ग लूटता है। इसका अर्थ ऐसा करना चाहिये। ऐसा अर्थ करने से निश्चयनय व व्यवहारनय का अविरोधपना सिद्ध होता है। जैन धर्म के चारों अनुयोगों में किसी भी जगह परस्पर विरोधी कथन हो ही नहीं सकता; इस तरह नय विभाग समझना चाहिये।

(२) इसी बात को श्री प्रवचनसार गाथा १८९, पृष्ठ २३१ में निम्नानुसार कहा है 'सूचनिका, अब निश्चय और व्यवहार का अविरोध बतलाते हैं' टीका—राग परिणाम ही आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है; आत्मा, राग परिणाम का ही कर्ता है, उसी का ग्रहण करनेवाला है और उसी का त्याग करनेवाला है; यह शुद्ध द्रव्य का निरूपण स्वरूप 'निश्चयनय' है और जो पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है; आत्मा पुद्गल परिणाम का कर्ता है, उसका ग्रहण करनेवाला और छोड़नेवाला है—यह अशुद्धद्रव्य का निरूपण स्वरूप 'व्यवहारनय' है। यह दोनों (नय) हैं क्योंकि, शुद्धतया और अशुद्धतया दोनों प्रकार से द्रव्य की प्रतीति की जाती है। किंतु यहाँ **निश्चयनय साधकतम (उत्कृष्ट साधक) होने से ग्रहण किया गया है (क्योंकि) साध्य के शुद्ध होने से द्रव्य के शुद्धत्व का द्योतक (प्रकाशक) होने से**

'निश्चयनय' ही साधकतम है, किंतु अशुद्धत्व का द्योतक व्यवहारनय साधकतम नहीं है ॥१८९॥

देखिये—यहाँ निश्चय-व्यवहार का अविरोध बताया है अर्थात् निश्चयनय ग्रहण करने योग्य है, व्यवहारनय ग्रहण करने योग्य नहीं है, ऐसा निर्णय करने से ही व्यवहार-निश्चय का अविरोध हो सकता है। **निश्चय-व्यवहार दोनों उपादेय हैं—ऐसा मानने से विरोध नहीं मिट सकता, उलटा विरोध आता है, जिन शासन में कहीं भी विरोध नहीं होना चाहिये।**

(३) श्री प्रवचनसार, गाथा १९०, पृष्ठ २३२ में लिखा है कि सूचनिका-अशुद्धनय से अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है।

टीका—शुद्ध द्रव्य के निरूपणस्वरूप निश्चयनय से निरपेक्ष रहकर **अशुद्ध द्रव्य के निरूपणस्वरूप व्यवहारनय से जिसे मोह उत्पन्न हुआ है, ऐसा वर्तता हुआ।**

देखिये—इस गाथा में अज्ञानी को शुद्ध द्रव्य के निरूपणस्वरूप निश्चयनय के प्रति उपेक्षावान् कहा है।

(४) श्री प्रवचनसार गाथा १९१, पृष्ठ २३३ में लिखा है कि सूचिनकाय—'अब निश्चित करते हैं कि शुद्धनय से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।'

टीका—जो आत्मा, मात्र अपने विषय में प्रवर्तमान—**अशुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप व्यवहारनय में अविरोधरूप से मध्यस्थ रहकर, शुद्ध द्रव्य के निरूपणस्वरूप निश्चयनय के द्वारा जिसने मोह को दूर किया है, ऐसा होता हुआ।**

देखिये—इस गाथा में स्पष्ट लिखा है कि ज्ञानी आत्मा व्यवहारनय में अविरोधरूप से मध्यस्थ रहते हैं और शुद्धनय के निरूपणस्वरूप निश्चयनय के द्वारा मोह को दूर करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि व्यवहारनय के कथन को अविरोध समझने के लिये वे उपचार कथन हैं—ऐसा सब जगह समझना चाहिये।

(५) व्यवहारनय के आश्रय से वीतराग-विज्ञानमय धर्म का कुछ भी लाभ होता है, ऐसा माननेवालों का मोह कभी भी दूर नहीं होता है। व्यवहार भूमिकानुसार कैसे आता है, वह जानना बराबर है किंतु व्यवहारनय के आश्रय से बिल्कुल भी धर्म नहीं होता; इसलिये व्यवहारनय के कथन को उपचार कथन मानकर, ज्ञेय मानकर जो ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं, उन्हीं का मोह दूर होता है।

(६) **प्रश्न**—श्री जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला भाग ३, पृष्ठ १० में लिखा है कि 'प्रश्न—निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों के ग्रहण-त्याग में क्या विवेक रखना आवश्यक है?'

उत्तर—ज्ञान दोनों नयों का करना, किंतु उनमें परमार्थ निश्चयनय आदरणीय है—ऐसी श्रद्धा करना।

(७) श्री मोक्षपाहुड़ में कहा है कि—

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥३१॥

अर्थ—जो योगी व्यवहार में सोता है, वह अपने कार्य में जागता है और जो व्यवहार में जागृत रहता है, वह अपने कार्य में (आत्मकार्य में) सोता है।

'व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को तथा उनके भावों को तथा उनके कारण-कार्यादिक को—किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; इसलिये ऐसे ही श्रद्धान में मिथ्यात्व है; इसलिये उनका त्याग करना चाहिये।'

(८) 'निश्चयनय उनका यथावत् निरूपण करता है तथा किसी का किसी में मिलाता नहीं है; इसलिये ऐसे ही श्रद्धान में सम्यक्त्व होता है; इसलिये उसका श्रद्धान करना चाहिये।'

'निश्चय का निश्चयरूप तथा व्यवहार का-व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है, किंतु एक ही नय का श्रद्धान होने से एकांत मिथ्यात्व होता है।'

'निश्चय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना तथा व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिये।'

देखिये—यहाँ पर भी व्यवहारनय और निश्चयनय का विरोध मिटाने के लिये ऐसा कहा है कि निश्चय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसको सत्यार्थ मानकर उसकी श्रद्धा करनी और व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसको असत्यार्थ मानकर उसकी श्रद्धा छोड़नी; इसप्रकार दोनों नयों की सत्य श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये विरोध को मिटाने के लिये निश्चय की श्रद्धा अंगीकार करनी चाहिये और व्यवहारनय की श्रद्धा छोड़नी चाहिये।

९—**प्रश्न**—आपने कहा कि निश्चय-व्यवहार का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है, वह किसप्रकार है?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३६६ में निम्नानुसार दिया है कि 'निश्चयव्यवहार को उपादेय मानना भी भ्रम है क्योंकि निश्चय और व्यवहार का स्वरूप परस्पर

विरुद्ध है। समयसार में ऐसा लिखा है कि:—

ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।

'व्यवहार अभूतार्थ है, सत्य स्वरूप का निरूपण नहीं करता, किसी अपेक्षा उपचार से अन्यथा निरूपण करता है तथा शुद्धनय जो निश्चय है, वह भूतार्थ है, जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा निरूपण करता है—इस तरह इन दोनों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है।'

१०—**प्रश्न**—शास्त्रों के अर्थ करने की पद्धति स्पष्ट रीति से क्या है ?

उत्तर—श्री पंचास्तिकाय प्रस्तावना के बाद पृष्ठ १९ निम्नानुसार लिखा है कि 'व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है। व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को तथा उनके भावों को तथा कारण कर्यादि को किसी का किसी में मिलाकर निरूपण करता है। इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है। इसलिये उसका त्याग करना चाहिये तथा निश्चयनय उन्हीं का यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता, इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। इसलिये उसका श्रद्धान करना चाहिये।

११—**प्रश्न**—यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, वह किसप्रकार ?

उत्तर—जिनमार्ग में कहीं तो निश्चय की मुख्यता से व्याख्यान है। उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है' ऐसा जानना तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता से व्याख्यान है, उसे **'ऐसा नहीं है किंतु निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है', इसप्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है परंतु दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर 'ऐसा भी है और ऐसा भी है' इसप्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन करने से तो दोनों नयों को ग्रहण करना नहीं कहा है।**

१२—**प्रश्न**—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो उसका उपयोग जिनमार्ग में किसलिये दिया ? एक निश्चयनय का ही निरूपण करना था ?

उत्तर—ऐसा ही तर्क श्री समयसार में किया है, वहाँ यह उत्तर दिया है—

जह णवि सक्कमणज्जो, अणज्जमासं विणा उगाहेउं।
तव ववहारेण विणा परमत्थुएवसण मसक्कं॥

अर्थ—जिसप्रकार अनार्य को-म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना अर्थ ग्रहण करना शक्य नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है। इसलिये व्यवहार का उपदेश

है। तथा इसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि 'व्यवहारनयोनानु सतंव्यः' अर्थात् निश्चय को अंगीकार कराने के लिये व्यवहार द्वारा उपदेश दिया जाता है परन्तु व्यवहारनय है, वह अंगीकार करने योग्य नहीं है।

१३—**प्रश्न**—(१) व्यवहार के बिना निश्चय का उपदेश नहीं होता—वह किसप्रकार?

उत्तर—निश्चयनय से तो आत्मा परद्रव्य से भिन्न, स्वभाव से अभिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसे न पहिचाने, उनसे ऐसा ही कहते रहें तो वे नहीं समझेंगे। इसलिये उन्हें समझाने के लिये व्यवहारनय से शरीरादि परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर-नारक-पृथ्वीकायादिरूप जीव के भेद किये तब 'मनुष्य जीव है, नारकी जीव है' इत्यादि प्रकार से उन्हें जीव की पहिचान हुई अथवा अभेद वस्तु में भेद उत्पन्न करके ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्यायरूप जीव के भेद किये, तब 'जाननेवाला जीव है—देखनेवाला जीव है' इत्यादि प्रकार से उन्हें जीव की पहिचान हुई और निश्चय से तो वीतरागभाव मोक्षमार्ग है किंतु उसे जो नहीं जानते, उनसे ऐसा ही कहते रहें तो वे नहीं समझेंगे; इसलिये उन्हें समझाने के लिये व्यवहारनय से तत्त्वार्थ श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक, परद्रव्य का निमित्त मिटाने की सापेक्षता द्वारा व्रत-शील-संयमादिरूप वीतरागभाव के विशेष-दर्शायें, तब उन्हें वीतरागता की पहिचान हुई। इसीप्रकार अन्यत्र भी व्यवहार के बिना निश्चय का उपदेश न होना समझना।

१४—**प्रश्न**—व्यवहारनय को अंगीकार नहीं करना चाहिए, वह किसप्रकार?

उत्तर—यहाँ व्यवहार से नर-नारकादि पर्याय को ही जीव कहा। इसलिये कहीं इस पर्याय को ही जीव नहीं मान लेना चाहिये। पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य पृथक् है, उसी को जीव मानना; जीव के संयोग से शरीरादिक को भी जीव कहा, वह कहनेमात्र ही है, परमार्थ से शरीरादिक जीव नहीं होते - ऐसा ही श्रद्धान करना।

दूसरी बात,

अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किये, इसलिये उन्हें कहीं भेदरूप ही नहीं मान लेना चाहिये, भेद तो-समझाने के लिये है।

निश्चय से आत्मा अभेद ही है; उसी को जीव वस्तु मानना। संज्ञा-संख्यादि के भेद कहे, वे कथनमात्र ही हैं। परमार्थ से वे पृथक्-पृथक् नहीं हैं—ऐसा ही श्रद्धान करना। पुनश्च, परद्रव्य का निमित्त मिटाने की अपेक्षा से व्रत-शील संयमादिक को मोक्षमार्ग कहा, इसलिये कहीं उन्हीं को

मोक्षमार्ग नहीं मान लेना चाहिये; क्योंकि परद्रव्य के ग्रहण-त्याग आत्मा को हो तो आत्मा परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जाये, किंतु कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधीन नहीं है। आत्मा तो अपने भाव जो रागादिक हैं, उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है; इसलिये निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। वीतरागभावों का और व्रतादिक का कदाचित् कारण-कार्यपना है; इसलिये व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहा किंतु वह कथनमात्र ही है। परमार्थ से बाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है-ऐसा ही श्रद्धान करना। इसीप्रकार अन्यत्र भी व्यवहारनय को अंगीकार न करना, ऐसा समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—व्यवहारनय पर को उपदेश देने में ही कार्यकारी है या स्वयं का भी प्रयोजन साधता है?

उत्तर—स्वयं भी जब तक निश्चयनय से प्ररूपित वस्तु को नहीं जानता, तब तक व्यवहार मार्ग द्वारा वस्तु का निश्चय करता है; इसलिये निचली दशा में स्वयं को भी व्यवहार कार्यकारी है, परंतु व्यवहारनय को उपचार मात्र मानकर उसके द्वारा वस्तु का बराबर श्रद्धान किया जाये तो वह कार्यकारी होता है, और यदि निश्चय की भाँति व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर 'वस्तु ऐसी ही है' ऐसा श्रद्धान किया जाये तो वह उल्टा अकार्यकारी हो जाता है। यही पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि—

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेवकेवल मवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य॥

अर्थ—मुनिराज, अज्ञानी को समझाने के लिये असत्यार्थ जो व्यवहारनय, उसका उपदेश देते हैं। जो मात्र व्यवहार को ही समझता है, उसे तो उपदेश देना ही योग्य नहीं।

जिसप्रकार जो सच्चे सिंह को नहीं जानता, उसे तो बिलाव ही सिंह है; उसीप्रकार जो निश्चय को नहीं समझता उसके तो व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त होता है।

१६—**प्रश्न**—निश्चय-व्यवहाराभास-अवलम्बियों को मिथ्यादृष्टि क्यों कहा है? उनमें क्या भूल है?

उत्तर—कोई जीव ऐसा मानते हैं कि जिनमत में व्यवहार और निश्चय दो नय कहे हैं इसलिये हमें उन दोनों नयों को अंगीकार करना चाहिये। ऐसा विचार कर, जिसप्रकार केवल

निश्चयाभास के अवलम्बियों का कथन किया था, तदनुसार तो वे निश्चय का अंगीकार करते हैं और जिसप्रकार केवल व्यवहाराभास के अवलम्बियों का कथन किया था, तदनुसार व्यवहार को अंगीकार करते हैं। यद्यपि इसप्रकार अंगीकार करने में दोनों नयों में परस्पर विरोध है, तथापि करे क्या ? दोनों नयों का सच्चा स्वरूप तो भासित हुआ नहीं है और जिनमत में दो नय कहे हैं, उनमें से किसी को छोड़ा भी नहीं जाता। इसलिये भ्रमपूर्वक दोनों नयों का साधन साधते हैं। उन जीवों को भी मिथ्यादृष्टि जानना।

१७—**प्रश्न**—निश्चय-व्यवहाराभासी अवलम्बियों की प्रवृत्ति की विशेषता बताओ ?

उत्तर—अंतरंग में स्वयं तो निर्धार करके यथावत् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग को जाना नहीं है परंतु जिन आज्ञा मानकर निश्चय-व्यवहाररूप दो प्रकार के मोक्षमार्ग मानते हैं।

अब मोक्षमार्ग तो कहीं दो हैं नहीं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपण किया है, वह निश्चय मोक्षमार्ग है और जहाँ मोक्षमार्ग तो है नहीं, किंतु मोक्षमार्ग का निमित्त है अथवा सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहे, वह व्यवहार मोक्षमार्ग है, क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण, सो निश्चय; उपचार निरूपण, सो व्यवहार। इसलिये निरूपण की अपेक्षा से दो प्रकार से मोक्षमार्ग जानना।

परन्तु एक निश्चय मोक्षमार्ग है तथा एक व्यवहार मोक्षमार्ग है—इसप्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।

पुनश्च वे निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानते हैं, वह भी भ्रम है क्योंकि निश्चय और व्यवहार का स्वरूप तो परस्पर विरोधसहित है।

श्री छहढाला, पंडित दौलतरामजी कृत, प्रकाशित सेठी दिगम्बर जैन शास्त्रमाला, तीसरी ढाल के पृष्ठ ४४-४५ में इसीप्रकार स्पष्ट किया है, उसे भी वहाँ से स्पष्ट पढ़ लेना।

३६८—**व्यवहारनय की विशेष स्पष्टता**—श्री समयसार गाथा ५८ से ६० तक के भावार्थ में निम्नप्रकार कहा है, 'पहले (श्री समयसार, गाथा ११ में) व्यवहार को असत्यार्थ कहा था, वहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि वह **सर्वथा असत्यार्थ है—कथंचित् असत्यार्थ जानना चाहिए,** क्योंकि जब एक द्रव्य को भिन्न, स्व-पर्यायों से अभेदरूप, उसके असाधारण गुणमात्र को प्रधान करके कहा जाये, तब परस्पर द्रव्यों का निमित्त-नैमित्तिक भाव तथा निमित्त से होनेवाली पर्यायें

—वे सब गौण हो जाती हैं, एक अभेद द्रव्य की दृष्टि में वे प्रतिभासित नहीं होते, इसलिये वे सब उस द्रव्य में नहीं हैं, ऐसा कथंचित् निषेध किया जाता है। यदि उन भावों को उस द्रव्य में कहा जाये तो वह व्यवहारनय से कहा जा सकता है, ऐसा नय विभाग है।'

'×××यदि निमित्त-नैमित्तिक भाव की दृष्टि से देखा जाये तो वह व्यवहार कथंचित् सत्यार्थ भी कहा जा सकता है, वह सर्वथा असत्यार्थ ही कहा जाये तो सर्व व्यवहार का लोप (अभाव) हो जाये और सर्व व्यवहार का लोप होने से परमार्थ का भी लोप हो जायेगा। इसलिये जिनदेव का स्याद्वादरूप उपदेश समझने से ही सम्यग्ज्ञान है, सर्वथा एकांत वह मिथ्यात्व है।'

३६९—देखिये, इस विवेचन से स्पष्टीकरण हो जाता है, वह निम्न प्रकार है।

(१) व्यवहारनय 'अस्तित्वरूप' से है, इस दृष्टि से वह सत्यार्थ है—भूतार्थ है। (देखिये श्री समयसार गाथा १४ की टीका) किंतु धर्म प्रगट करने के लिये सर्वथा असत्यार्थ है अभूतार्थ है अर्थात् इसका आश्रय छोड़ने योग्य है। (देखिये, समयसार गाथा ११ की टीका)

(२) निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों हेय, उपादेय, ज्ञेय का ज्ञान करने के लिये उपादेय है, कार्यकारी है, त्याज्य नहीं है। (देखिये, नियमसार गाथा ४९, हिन्दी पृष्ठ १०३ पर टीका प्रथम पेरेग्राफ की फुटनोट)

और आश्रय करने के लिये सर्वथा असत्यार्थ है, त्याज्य है, हेय है, अभूतार्थ है। देखिये नियमसार गाथा ५० की पूरी टीका, दोनों कलश, पृष्ठ १०४ से १०६ तक।

(३) जीव की पर्याय में शुभभाव-अशुभभाव और शुद्धभाव तीनों होते हैं; उनमें हेय, ज्ञेय, उपादेय सहित का ज्ञान कराने के लिये व्यवहारनय सत्यार्थ है, उपादेय है परंतु शुभ, अशुभ और शुद्ध तीनों पर्याय होने से धर्म प्रगट करने के लिये, आश्रय करने के लिये सर्वथा असत्यार्थ, अभूतार्थ, त्याज्य है।

(४) निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों हेय, ज्ञेय, उपादेय सहित का ज्ञान कराने के लिये सत्यार्थ है क्योंकि व्यवहारनय से पर्याय के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान होता है और निश्चयनय से आत्मा के त्रिकाल स्वरूप का ज्ञान होता है; इसलिये अपने-अपने विषय की अपेक्षा से दोनों नय सत्यार्थ हैं, भूतार्थ हैं, त्यागने योग्य नहीं, किंतु **आश्रय करने के लिये, धर्म प्रगट करने के लिये व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ अभूतार्थ है,** और निश्चयनय (निश्चयनय का विषय) सर्वथा सत्यार्थ-भूतार्थ है। (आध्यात्मशैली में नय और नय के विषय को अभेद माना है।)

(५) जो जीव, भगवान की शान्त मुद्रा देखकर अपने स्वरूप का निर्णय करते हैं तथा अपने सन्मुख होकर अपने त्रिकाली स्वरूप का आश्रय करके शान्तभाव प्रगट करते हैं, उनको भगवान की शांत मुद्रा देखने का व्यवहार, निमित्त होने से उपकारी कहने में आता है, यहाँ उपकार का अर्थ निमित्तमात्र समझना। भगवान के शरीर के आश्रय से स्तुति करते हुये जो जीव अपना पुरुषार्थ विशेष जागृत कर अपने सन्मुख होते हैं, उनको शरीर की स्तुति निमित्त कहने में आती है।

इसप्रकार निमित्त का ज्ञान कराने के लिये व्यवहारनय सत्यार्थ है, असत्यार्थ नहीं है परंतु भगवान की शांतमुद्रा देखकर जो जीव अपने सन्मुख न होवे तो कभी भी वीतरागता की प्राप्ति नहीं होगी, धर्म नहीं होगा।

इससे सिद्ध हुआ कि जो जीव अपने त्रिकाली द्रव्य का आश्रय लेकर वीतरागता (निश्चय धर्म) प्रगट करते हैं, उनको भगवान की शांतमुद्रा और भगवान की स्तुति निमित्त कहलाती है और जो अपने त्रिकाली द्रव्य का आश्रय न करके अपने सन्मुख नहीं होते, उनको भगवान की शांतमुद्रा और भगवान की स्तुति निमित्त भी नहीं कहलाती।

इसप्रकार निमित्त का ज्ञान कराने के लिये व्यवहारनय कथंचित् सत्यार्थ है, भूतार्थ है—ऐसा समझना चाहिए। (समयसार गाथा २८ का भावार्थ)

(६) व्यवहार का कथन उपचार कथन है, वह व्यवहाररूप अस्ति होने से सत्यार्थ है। उपचार का, निमित्त का ज्ञान कराने के लिये सत्यार्थ है। अनुपचार का ज्ञान कराने के लिये निमित्त है, यह बात बराबर है। (देखिये, नयचक्र गाथा २६२-२८८)

(७) धर्म प्रगट करने के लिये (व्यवहारनय) आश्रय करने योग्य सर्वथा नहीं है। (समयसार, गाथा ११, ५८ से ६०, गाथा २७२ से २७७ तक, कलश १७३) इसलिये व्यवहारनय असत्यार्थ है।

(८) जहाँ दोनों प्रकार के नयों का ज्ञान करना हो, वहाँ सत्यार्थ-भूतार्थ है, उसका विषय भी सत्यार्थ है परंतु धर्म करने के लिये, आश्रय करने के लिये अभूतार्थ-असत्यार्थ है; इसलिये व्यवहारनय, निश्चयनय के द्वारा निषेध करने योग्य है, क्योंकि व्यवहारनय का निषेधक निश्चयनय है, ऐसा समझना चाहिये।

९—**प्रश्न**—व्यवहारनय, व्यवहारनय से सत्य है या नहीं?

उत्तर—खोटा रुपया खोटे रुपये की अपेक्षा सत्य है; इसीप्रकार व्यवहारनय, व्यवहारनय

की अपेक्षा सत्य है, परंतु जैसे खोटा रुपया, सच्चे रुपये की अपेक्षा झूठा है, ऐसे ही व्यवहारनय, निश्चयनय की अपेक्षा झूठा है, असत्य है।

(१०) व्यवहारनय का कथन असत्यार्थ है क्योंकि वह किसी अपेक्षा से उपचार से अन्यथा निरूपण करता है तथा निश्चयनय शुद्धनय है, भूतार्थ है, क्योंकि वह वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा ही निरूपण करता है, इसलिये व्यवहारनय कथंचित् सत्यार्थ है, उसका अर्थ यह हुआ कि वह कथंचित् असत्यार्थ है।

३७०—**(१) प्रश्न**—व्यवहारनय कथंचित् सत्यार्थ है तो किस अपेक्षा से सत्यार्थ है ?

उत्तर—(१) वह अस्ति रखता है। (२) उसका विषय भी है। (३) हेय, ज्ञेय, उपादेय का ज्ञान कराने के लिये।

(२) प्रश्न—व्यवहारनय असत्यार्थ है तो किस अपेक्षा से असत्यार्थ है ?

उत्तर—(१) उपचार से अन्यथा निरूपण करता है।

(२) वह जैसा कहता है, वैसा स्वरूप नहीं है परंतु निमित्तादि की अपेक्षा से उपचार किया है।

(३) धर्म प्रगट करने के लिये (अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करने के लिये) वह आश्रय करने योग्य कभी भी नहीं है। इसप्रकार व्यवहारनय कथंचित् सत्यार्थ है, कथंचित् असत्यार्थ है-ऐसा अनेकांत स्वरूप समझना।

इसलिये जो उसको आश्रय करने के लिये हेय और कथन करने के लिये उपचार से अन्यथा निरूपण है, ऐसा मानते हैं, उन्हें सम्यक् श्रद्धा होती है, किंतु जो उसके कथन को अन्यथा निरूपण है-ऐसा नहीं मानते हैं तथा जो उसको धर्म प्रगट करने के लिये आश्रय करने योग्य है, ऐसा मानते हैं उनकी श्रद्धा विपरीत होने से मिथ्यादृष्टि हैं। वे सम्यक् अनेकांत के स्वरूप को नहीं जानते।

क्रमशः

धर्म

श्री समंतभद्राचार्य 'रत्नकरंडश्रावकाचार' गाथा २ में धर्म का स्वरूप कहा है कि—

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्म निवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे॥

अर्थ—मैं (समंतभद्राचार्य) ग्रंथकर्ता इस ग्रंथ में धर्म का उपदेश करता हूँ कि जो प्राणियों को पंचपरावर्तनरूप संसार के दु:खों से छुड़ाकर मोक्ष के बाधा रहित उत्तम सुख में धारण करता है। वह धर्म कैसा है ? जिसमें वादी-प्रतिवादी द्वारा तथा प्रत्यक्ष-अनुमानादि से बाधा नहीं आती तथा जो कर्मबंधन को नश्ट करनेवाला है, उस धर्म को कहता हूँ।

भावार्थ—संसार में 'धर्म' ऐसा नाम तो सभी लोग कहते हैं, किंतु धर्म शब्द का अर्थ तो ऐसा है कि जो नरक-तिर्यंचादि गति में परिभ्रमणरूप दु:खों से आत्मा को छुड़ाकर उत्तम आत्मिक अविनाशी, अतीन्द्रिय मोक्ष सुख में धारण करे वह धर्म है।

ऐसा धर्म बाजार में नहीं बिकता कि धन देकर दान-सन्मान आदि से प्राप्त हो जाये, तथा किसी के देने से दिया नहीं जाता कि किसी को सेवा-उपासना से प्रसन्न करके प्राप्त किया जा सके, तथा मंदिर, पर्वत, जल, अग्नि, देवमूर्ति, तीर्थादि में धर्म को नहीं रख छोड़ा है कि वहाँ जाकर ले आये, अथवा उपवास, व्रत, कायक्लेशादि तप में शरीरादि कृष करने से भी प्राप्त नहीं होता।

देवाधिदेव तीर्थंकर भगवान के मंदिर में उपकरण-दान मंडलविधान पूजा आदि से तथा घर छोड़कर वन-श्मशान में रहने से तथा परमेश्वर का नाम जपने आदि से भी आत्मा का धर्म नहीं प्राप्त हो सकता है। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। पर में आत्मबुद्धि छोड़कर (अर्थात् पर से भला-बुरा होने की मान्यता, पर का कुछ किया जा सकता है, शुभरागरूप व्यवहार के आश्रय से धर्म होता है, रागादि-क्रोध-मान-माया-लोभरूप कषाय तथा हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, पुरुषवेद नोकषाय करने योग्य है, ऐसी मान्यता; तथा परद्रव्य—परक्षेत्रादि के कारण मुझे रागादि या सुख-दु:खादि होते हैं, इस मान्यता में पर में आत्मबुद्धि है ही; इस महान भूल को भलीभाँति जानकर, उससे रहित मैं त्रिकाल ज्ञायकस्वभावरूप हूँ, सर्वज्ञस्वभावी हूँ, पर का-रागादि का कर्ता-भोक्ता-स्वामी नहीं हूँ—ऐसे निर्णयसहित पूर्ण ज्ञानस्वभावी आत्मा के निश्चय

तथा स्वानुभव द्वारा पराश्रय की श्रद्धा छोड़कर) अपने ज्ञातादृष्टा स्वभाव की श्रद्धा, उसका ज्ञान तथा ज्ञायकस्वभाव में ही प्रवर्तनरूप जो आचरण वह 'धर्म' है।

उत्तमक्षमादि दसलक्षणरूप अपने आत्मा का परिणमन, रत्नत्रयरूप वीतरागभाव, मिथ्यात्व-रागादि की उत्पत्तिरहित जीवों की दयारूप आत्मा की परिणति होगी, तब यह आत्मा स्वयं ही धर्मरूप होगा। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकालादि तो निमित्तमात्र हैं।

जब यह आत्मा मिथ्यात्व-रागादिरूप परिणति को छोड़कर, वीतरागरूप होकर देखता है, तब (निश्चयधर्म के सद्भाव से ही असद्भूत उपचारवाले व्यवहारनय द्वारा) मंदिर, प्रतिमा, तीर्थ, दान, तप, जप सभी धर्मरूप हैं। और यदि अपना आत्मा उत्तम क्षमादि वीतरागरूप सम्यग्ज्ञानरूप परिणमन नहीं करता तो वहाँ कहीं भी किंचित् धर्म नहीं होता। यदि शुभराग हो तो पुण्य बंध होता है, और अशुभराग, द्वेष, मोह हो तो पापबंध होता है। जहाँ शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान स्वरूपाचरणरूप धर्म है, वहाँ बंध का अभाव है, बंध का अभाव होने से ही उत्तम सुख होता है।

[पराश्रयरहित अतीन्द्रिय, आत्मा से ही उत्पन्न होनेवाला ऐसा निराकुलता लक्षण सुख ही धर्म है। धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से ही होता है।]

(श्री रत्नकरंडश्रावकाचार की स्व० पं० सदासुखजी कृत देशभाषा वचनिका पर से।)

अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के गुण (-पर्याय) उत्पन्न नहीं कर सकता

'अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के गुण (-पर्याय) उत्पन्न नहीं कर सकता' ऐसा श्री अमृतचंद्राचार्य समयसार कलश २१९ में कहते हैं

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्टया नान्यद्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि।
सर्वं द्रव्योत्पत्तिरन्तश्चाकस्ति व्यक्तानंतं स्वस्वभावेन यस्मात्॥२१९॥

अर्थः—तत्त्वदृष्टि से देखने पर, राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित् नहीं दिखाई देता, कारण कि सभी द्रव्यों की उत्पत्ति (-प्रत्येक द्रव्य और उसके पर्यायों की उत्पत्ति) अपने स्वभाव से ही होती हुई अंतरंग में अत्यंत प्रगट प्रकाशित होती है।

भावार्थः—राग-द्वेष चेतन के ही परिणाम हैं, अन्य द्रव्य आत्मा को राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करा सकता; कारण कि सभी द्रव्यों और पर्यायों की उत्पत्ति अपने-अपने स्वभाव से ही होती है, अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य के गुण-पर्यायों की उत्पत्ति नहीं होती॥२१९॥ अब इस अर्थ को श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव गाथा ३७२ में कहते हैं कि—अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुण की (-पर्याय की) उत्पत्ति नहीं की जा सकती; इसलिये (यह सिद्धांत है कि) सब द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं।

टीकाः—जीव को परद्रव्य रागादि उत्पन्न कराते हैं, ऐसी शंका नहीं करना; क्योंकि अन्य द्रव्य द्वारा अन्य द्रव्य के गुण का (पर्याय का) उत्पाद कराने की अयोग्यता है; (अर्थात् पर के कार्य करने की किसी द्रव्य में योग्यता-सामर्थ्य नहीं है) क्योंकि सब द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद (-द्रव्य में नवीन पर्याय की प्राप्ति) होती है।

[यहाँ विस्तार से दृष्टांत देकर उपरोक्त सिद्धांत आचार्यदेव ने बताया है] इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि जीव को रागादि का उत्पादक हम परद्रव्य को देखते (मानते-जानते) नहीं कि जिस पर क्रोध करें।

भूतार्थ स्वरूप का ग्रहण और साध्य-साधन का मेल

[पंचास्तिकाय, गाथा १७२ पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन]

(राजकोट, तारीख ३-५-६२)

आत्मा का हित करनेवाले जीव का सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और वर्तन कैसा होता है ? पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ होता है, वहाँ बीच में मंद पुरुषार्थ में राग का क्या प्रकार होता है—उसकी बात चलती है।

छठवें गुणस्थान तक चारित्र में बुद्धिपूर्वक राग होता है, उस अपेक्षा से भेदवासित बुद्धि कही जाती है; वहाँ शुद्धि का सच्चा कारण तो शुद्धात्मद्रव्य के अभेद आश्रयरूप वीतरागभाव ही है, अर्थात् निश्चय श्रद्धा, ज्ञान, चारित्ररूप वीतरागी अंश प्रगट होता है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है; उसके साथ असद्भूत उपचरित व्यवहारनय के विषयरूप-बहिरंग सहचरहेतुरूप (निमित्तरूप) शुभराग (-व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के विकल्प) होता है, उसका स्वरूप बतलाया जा रहा है।

सर्वज्ञ वीतराग कथित सर्व शास्त्रों का सार आत्मा में वीतरागी दृष्टि करना और उसके बल द्वारा संयोग-विकल्प के आलंबन से हटकर ज्ञानानंद से पूर्ण स्वभाव में एकाग्र होना, वीतरागता प्रगट करना है।

चैतन्यवस्तु पूर्ण है; उसकी अभेददृष्टि हुई, तब से अनादिकालीन पराश्रय की—राग की रुचिरूप मिथ्यात्ववासित बुद्धि थी, वह पलटकर, अंतर में शुद्ध चैतन्यघन में एकाकार अनुभव होने से पुण्य-पाप की रुचि छूटकर, अनुपम शांति का, अभेद चिन्मात्र का अनुभव प्रारम्भ होता है, उसे प्रथम धर्म कहा जाता है। श्रद्धा में, दृष्टि में और अंशतः स्वरूपाचरणचारित्र में आत्मा धर्म परिणत होने पर भी विशेष चारित्र नहीं है, वहाँ छठवें गुणस्थान में राग, निमित्त, अल्पज्ञता पर लक्ष जाता है, उतनी भेदवासित बुद्धि है।

मैं सच्चिदानंद पूर्ण ज्ञानघन हूँ; उसमें यथार्थ दृष्टि और शुद्धनयरूप ज्ञान को उन्मुख करके

स्वरूप का अनुभव किया, किंतु वर्तमान प्रगट दशा में पूर्ण निर्दोषता प्रगट नहीं की है, इसलिये रागरूप वासना-शुभवृत्ति होती है, उसे भेदज्ञानसहित जानकर, वहाँ से हटकर, स्वरूप में गुप्त होने की बात है।

अनादि से परपदार्थों में और राग में एकत्वबुद्धि थी; वहाँ तक धर्म के नाम पर मुनि हुआ, व्रतों का पालन किया, किंतु राग से हटकर अकेला ज्ञायक हूँ, मैं ही पूर्णानंद हूँ—ऐसा अभेद अनुभव एक क्षण भी नहीं किया। यहाँ तो, सत्य अनुभव हुआ है, चारित्रवान है, किंतु पूर्ण वीतरागता नहीं है, वहाँ कहाँ, किसप्रकार का शुभराग होता है, वह बात चल रही है। **वीतरागी दृष्टि और चारित्र दशा के साथ कुमेलवाला-अनुचित राग नहीं होता;** वीतरागता ही सर्व शास्त्रों का तात्पर्य है। प्रथम व्यवहार और फिर निश्चय—ऐसा नहीं होता; किंतु वीतरागी दृष्टि के साथ चारित्र है, वहाँ मंद प्रयत्नवाली साधकदशा के साथ व्यवहार की वृत्ति-शुभराग किसप्रकार का होता है, उसका मेल बतलाते हैं।

भेदवासित बुद्धि अर्थात् अज्ञानी—ऐसा यहाँ नहीं समझना चाहिये; किंतु निर्मल चैतन्य में दृष्टि होने पर भी, चारित्र में अनादि से रागादि मलिनता बनी हुई है, इस अपेक्षा से भेदवासित बुद्धि है, और उसे छोड़ने का उपाय क्या है, सो कहते हैं।

प्राथमिक दशावाले जीवों को अर्थात् चौथे-पाँचवें-छट्ठे गुणस्थानवर्ती जीवों को कथंचित् भेदवासित बुद्धि है; इसलिये संसार है; किंतु परवस्तु के कारण संसार है, ऐसा नहीं है। निश्चय ज्ञान के साथ व्यवहार ज्ञान होता है, उसमें असद्भूत व्यवहारनय द्वारा अंशतः वीतरागभावरूप निर्मल दशा और असद्भूत व्यवहारनय द्वारा उस भूमिका के योग्य किसप्रकार का राग उचित निमित्तरूप से होता है, उसका मेल बतलाते हैं। स्वरूप में अभेददृष्टि हुई है, किंतु प्रगट दशा में पूर्ण अभेद नहीं हुआ है। तीन कषायों का अभाव किया है और द्रव्यस्वभाव के अभेद आलंबन के बल से बारम्बार निर्विकल्पशुद्ध उपयोगी सातवाँ गुणस्थान होता है—ऐसी मुनिदशा त्रिकाल होती है, तथापि प्रमादवश बारम्बार छट्ठे गुणस्थान में आते हैं, इसलिये वहाँ भेदवासित बुद्धि बनी हुई है।

रागादि आस्रव और ज्ञानघन स्वभाव का भेदज्ञान स्वोन्मुखता के बल से होता है। निश्चय-व्यवहार के अविरोध द्वारा ही इस वीतरागता का अनुसरण किया जाये तो इष्टसिद्धि है, अन्य प्रकार से नहीं।—अर्थात् निश्चय-व्यवहार की सुसंगता रहे, इसप्रकार एक वीतरागता का अनुसरण किया जाये, तभी इष्ट की सिद्धि है।

छठवें गुणस्थान में शुद्धात्मा के अवलंबन से ही मुनियोग्य शुद्ध-परिणति निरंतर होती है; तथा महाव्रतादि के अट्ठाईस मूलगुण संबंधी शुभभाव यथायोग्य होना, वह निश्चय-व्यवहार के अविरोध का (सुमेल का) उदाहरण है।

पाँचवें गुणस्थान में उसके योग्य शुद्धपरिणति निरंतर होना तथा देशव्रत आदि संबंधी शुभभाव यथायोग्यरूप से होना, वह भी निश्चय-व्यवहार के अविरोध का उदाहरण है।

उपरोक्त बात को विशेषरूप से समझाते हैं—

अनादिकाल से भेदवासित बुद्धि होने के कारण प्राथमिक जीव जो मोक्षमार्ग में आरूढ़ होकर छठवें-सातवें गुणस्थान में वर्तते हैं—पूर्ण अभेद नहीं हुए हैं, इसलिये वे भिन्न साध्य-साधनभाव को जानकर, उसके स्वाश्रित-पराश्रित भेद का अवलंबन लेकर सुखपूर्वक तीर्थ का प्रारम्भ करते हैं अर्थात् सुगमरूप से मोक्षमार्ग की प्रारंभिक भूमिका का सेवन करते हैं।

जिसप्रकार श्रद्धा में भेदवासनारहित अभेद हुआ है, उसीप्रकार यदि चारित्र में परिपूर्ण हुआ हो तो उसे अवतार न हो—भिन्न साधनसाध्य का प्रश्न न हो, किंतु चारित्र में भेदरूप अपूर्णदशा है। इसलिये सरागदशा में भेदवासित बुद्धि है; अंशतः सराग, अंशतः वीतराग का भेद है। छट्ठे गुणस्थान के काल में ऐसे भेद में बुद्धि रुकी हुई होती है।

मोक्षमार्ग प्राप्त ज्ञानी जीवों को प्राथमिक भूमिका में साध्य तो परिपूर्ण शुद्धतारूप परिणत आत्मा है और उसका साधन व्यवहारनय से (आंशिक शुद्धि के साथ रहनेवाले) भेदरत्नत्रयरूप परालम्बी विकल्प-शुभरागरूप व्यवहाररत्नत्रय होता है। इसप्रकार उन जीवों को व्यवहारनय से साध्य और साधन भिन्न प्रकार के कहे जाते हैं। (निश्चयनय से साध्य और साधन अभिन्न होते हैं)।

[यहाँ प्रश्न होता है कि—छट्ठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि को भेद साध्यसाधन और सुखपूर्वक तीर्थ का प्रारम्भ क्यों कहा है?—तो कहते हैं कि—वहाँ सातिशय उग्र पुरुषार्थ नहीं है, इसलिये सुखपूर्वक अर्थात् सुगमरूप से, बिना कठिनाई के प्रारम्भ बतानले को कहा है। जिन्होंने द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत शुद्धात्मास्वरूप के श्रद्धानादि किये हैं, ऐसे सम्यग्ज्ञानी जीवों को तीर्थसेवन की प्राथमिक दशा में (-मोक्षमार्ग सेवन की प्रारम्भिक भूमिका में) आंशिक शुद्धि के साथ-साथ श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र संबंधी परालंबी विकल्पों के (भेदरत्नत्रय के) सद्भाव के कारण अनादिकाल से जीवों के जो भेदवासना से वासित परिणति चली आती है, उसका तुरंत ही सर्वथा नाश होना कठिन है।]

पंचास्तिकाय, गाथा १७० में कहा है कि—संयम, तप सहित होने पर भी, नव पदार्थ तथा तीर्थंकर के प्रति जिसकी बुद्धि की युक्तता वर्तती है और सूत्रों के प्रति जिसे रुचि (प्रीति) वर्तती है, उस जीव को निर्वाण दूरतर (विशेष दूर) है।

टीका:—यहाँ अरिहंतादि की भक्तिरूप परसमय प्रवृत्ति में साक्षात् मोक्षहेतुपने का अभाव होने पर भी परंपरा से मोक्षहेतुपने का सद्भाव दर्शाया है। श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि—अज्ञानी के व्रतादि संबंधी शुभभाव तो सर्वदोष, अनर्थपरम्परा का कारण है, किंतु सम्यग्दृष्टि को सर्वप्रकार के राग में हेयबुद्धि होने से और सहचरहेतुरूप से इसीप्रकार का शुभराग निमित्तरूप से होता है—अज्ञानी की भूमिका का नहीं।—इसप्रकार अट्ठाईस मूलगुण—व्यवहाररत्नत्रय के राग का ही अभाव करके मोक्ष जाते हैं—ऐसा बतलाने के लिये व्यवहार को परम्परा मोक्षहेतुपना दर्शाया है।

जो जीव सचमुच मोक्ष के हेतु उद्यमी चित्तवाला वर्तता हुआ अचिंत्य संयम-तपभार संप्राप्त किया होने पर भी परम वैराग्य भूमिका का आरोहण करने में समर्थ, ऐसी प्रभुशक्ति उत्पन्न नहीं की है; इसलिये 'धुनकी को चिपकी हुई रुई' के न्याय से नवपदार्थ तथा अरहंतादि की रुचिरूप (प्रीतिरूप) परसमय प्रवृत्ति का परित्याग नहीं कर सकता, वह जीव सचमुच साक्षात् मोक्ष को प्राप्त नहीं करता, परंतु देवलोकादि के क्लेश की प्राप्तिरूप परंपरा द्वारा उसे प्राप्त करता है। इसप्रकार जो जीव यथार्थ मोक्षमार्ग में प्रारम्भ किया होने पर भी, चारित्र में प्रचंड पुरुषार्थ से प्रभुत्वशक्ति प्रगट नहीं करता, वहाँ भेदवासित बुद्धि से रुका है। सम्यक् आनंद का स्पर्श नयपक्षातिक्रांतरूप से शुद्धोपयोगी अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव होने पर भी उसमें से उपयोग का छूट जाना—ऐसा बारंबार होता रहता है। अखंड धारावाही निज परमात्मस्वरूप में उग्ररूप से लीन रहना चाहिये; उस स्थिति को प्राप्त न हो सके, उतने काल उसे योग्य व्यवहार का अवलंबन आता है। भान हुआ है कि परम वैराग्य से अंतर में स्थित होना ही है। यदि परमार्थ में ही स्थित रहने को बलवान हो, तो व्यवहारनय के भेद पर किंचित् दृष्टि नहीं रखना चाहता, किंतु खेद है कि पुरुषार्थ की निर्बलता के काल में उसे योग्य शुभ व्यवहार आये बिना नहीं रहता। ज्ञानी किसी भी प्रकार के शुभराग को हितकर, सहायक नहीं मानते, क्योंकि ज्यों-ज्यों परिणति, स्वरूप के भीतर ढलती जाती है, त्यों-त्यों व्यवहार का अभाव होता जाता है; इसलिये वह सचमुच सहायक नहीं है; अभाव, वह भाव का सच्चा कारण नहीं है।

सम्यग्दृष्टि का ध्येय भूतार्थ, पूर्ण एकरूप है, वह ज्ञाताभावरूप से परिणमित हुआ है, उसे

छठवें गुणस्थान में व्यवहार के भेदों पर लक्ष जाता है, किंतु वह शुभराग सच्चा साधन नहीं है। जो सच्चा साधन नहीं है, फिर भी उसे व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र क्यों कहा ? कि मिथ्यादृष्टिपना दूर होने के पश्चात् चाहे जैसा राग नहीं होता; कुदेवादि का राग नहीं होता और निर्ग्रंथ मुनिदशा में वस्त्र-पात्रादि परिग्रह सहितपना नहीं होता; किंतु शास्त्र कथित ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध होता है। सर्वज्ञ कथित अठारह दोषरहित सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरु, उनकी श्रद्धा, नवतत्त्वों का ज्ञान तथा संयम भाव होता है, उसे ही उचित निमित्तरूप भिन्न साधन कहा जाता है। इसप्रकार व्यवहार को भिन्न साध्य-साधन कहे गये हैं। यहाँ पर्याय में साध्य साधन है। पूर्ण परमार्थदशा, वह व्यवहार साध्य है और छट्ठे गुणस्थान के योग्य व्यवहाररत्नत्रय, वह भिन्न साधन अर्थात् निमित्तरूप व्यवहार साधन है। पूर्ण ज्ञानघन अनादि-अनंत शुद्धचैतन्य स्वरूप, वह निश्चय साध्य है। पूर्ण वीतराग न हो, वहाँ बुद्धिपूर्वक रागदशा में नवतत्त्वों के विकल्प आये बिना नहीं रहते, इसलिये चारित्रदोष की निर्बलता के कारण मोक्षमार्गस्थ को भी भेदवासित कहा है। श्रद्धा में अनादिकाल से जो राग में एकत्वबुद्धि थी, वह टूट गई है, किंतु चारित्र में राग का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है।

जैसे—बहियों की पेटी में कभी कस्तूरी रख दी हो और फिर उठाली हो; किंतु छह महीने बाद भी पेटी खोलें तो उसकी वासना (गंध) बहियों के हर एक पृष्ठ में लगी होगी; तथापि वह बहियों का मूल स्वभाव नहीं है। उसीप्रकार रागादि उपाधि मेरा स्वतत्त्व नहीं है। पर से भेद करके निर्मल ध्रुवस्वभाव में एकता की, किंतु चारित्र में राग की गंध (वासना) भरी हुई है। मुनिदशा में बारंबार अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करते हैं, तथापि अशक्ति के कारण विकल्प उठता है—भगवान की भक्ति का राग भी आता है; वह ऐसा सूचित करता है कि उग्र पुरुषार्थ प्रगट नहीं किया है। कुछ अंशों में वीतरागीदशा प्रगट हुई है, पूर्ण नहीं है; इसलिये राग को दूर करने की भावना उठती है, वहाँ सुगमरूप से मोक्षमार्ग साधते हैं अर्थात् नित्य सहज ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ज्ञातादृष्टा के भान में निश्चय-व्यवहार का ज्ञान करते-करते, आनंदस्वभाव में ढलने का प्रयत्न हो रहा है; वहाँ कैसे विकल्प आते हैं, सो कहते हैं।—जिसको राग की वासना कहा है।

(१) यह श्रद्धा करनेवाला है और यह श्रद्धेय है—इत्यादि विचार करता है। सर्वज्ञ-वीतराग कथित नवतत्त्वों में छह द्रव्य और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र आ जाते हैं; उन नवतत्त्वों का स्वरूप विपरीत अभिप्रायरहित होकर श्रद्धा करने योग्य है। नवपदार्थों को यथावत् जाने, तभी अंतर में नि:शंकरूप से स्थिर होने में समर्थ हो सकता है और नवतत्त्वों की श्रद्धा के बिना अकेले आत्मा की

श्रद्धा नहीं होती। सर्वज्ञ-कथित नवतत्त्व, छह द्रव्यों को अस्ति-नास्ति से जाने बिना और रागादि विभावपर्याय भी अपने से स्वतंत्ररूप से की जाती है—ऐसा माने बिना सर्व संयोग एवं राग से भिन्न स्वयं अखंड ज्ञानानंदमूर्ति है—ऐसा मानने की अथवा स्वानुभव की शक्ति नहीं होती।

वर्तमान ज्ञान की शक्ति ऐसी है कि जिसे प्रयोजनभूत जाने, उसका निर्णय किये बिना नहीं रहती। सर्वज्ञ भगवान ने छह प्रकार के द्रव्य देखे हैं, उनका अस्तित्व सदैव है, उनमें जीव (आत्मा) सदा चैतन्य है—ज्ञातास्वरूप है और शेष पाँच अचेतन हैं—अजीव हैं। नवतत्त्वों में जीव-अजीव तो द्रव्य हैं, और आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा तथा मोक्ष, यह पाँच पर्यायें हैं—ऐसा न माने, न जाने, तो इस बात का ज्ञान नहीं हो सकता कि स्वयं छह द्रव्यस्वरूप विश्व से पृथक् है तथा अपनी अनंत शक्तियों से परिपूर्ण है।

सर्वज्ञ भगवान के कहे हुए नवतत्त्वों की प्रतीति का प्रयोजन तो जिससे मिथ्यात्व-रागादि की उत्पत्ति न हो, ऐसे वीतराग विज्ञानमय स्वभाव की प्राप्ति है। शुभराग के भेद आयें, वे जानने योग्य हैं। चौदह गुणस्थानों के भेद की भूमिकाएँ और उतने अंशों में साधुदशा तथा साधकदशा को बराबर जानना चाहिये। जो निश्चय-व्यवहार का भूमिकानुसार अविरोधपना नहीं जानता और स्वच्छंदता से चाहे जैसा मानता है, उसकी बात ही नहीं है।

श्री बनारसीदासजी आदि भ्रम से अपने को परिग्रहरहित मुनि मानकर नग्न होकर कमरे में घूमने लगे थे। कोई अपने को वस्त्रसहित मुनिदशा माने, कोई मात्र नग्न रहकर अपने माने हुए व्रतादि से मोक्षमार्गरूपी धर्म माने तो वैसा नहीं हो सकता, किंतु वह मिथ्यात्व के महान पाप का बंध करता है।

प्रथम विपरीत अभिप्रायरहित तत्त्वार्थश्रद्धान भावभासनरूप होना चाहिये। श्रद्धा में से रागवृत्ति के वस्त्रों का परित्याग कर दे, चैतन्य में शुभ-अशुभ विकल्प (वृत्ति) नहीं है; पर का ग्रहण-त्याग नहीं है;—ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा के भान बिना शुभाशुभवृत्ति को कौन जानेगा? हेय-उपादेय को कौन जानेगा? सम्यग्दृष्टि के शुभभाव भी बंध का कारण है; बंध का कारण कभी शुद्धि का कारण नहीं हो सकता।

श्रद्धा का विषय, श्रद्धा, श्रद्धा का फल और श्रद्धा करनेवाला।

श्रद्धा अर्थात् उपादेय तत्त्व का आदर-स्वीकार। श्रद्धा करनेयोग्य निश्चय में अपना पूर्णरूप शुद्धात्मा है, व्यवहार में नवतत्त्वादि हैं; उनका यथार्थ निर्णय करके निर्विकल्प श्रद्धा द्वारा श्रद्धा में

पूर्ण निर्दोष हुआ किंतु चारित्र में पूर्ण वीतरागता नहीं है, तो उसकी भूमिका के योग्य ही शुभराग और निमित्त, निमित्तरूप से होते हैं; उससे विरुद्ध नहीं होते।

अन्यमत में तो पंद्रह भेद से मुक्ति कहकर, चाहे जैसा वेश हो, व्यवहार हो, तथापि उसे मोक्षमार्गी मान लेते हैं; ऐसा वीतराग के मार्ग में नहीं है।

निश्चयनय मानने के पश्चात् परद्रव्य कहाँ बाधक होते हैं ? माँस, मदिरा, स्त्री, रात्रिभोजन आदि कहाँ बाधक हैं ? निश्चय में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, भोगता नहीं है, तो फिर स्त्री का परिचय कहाँ बाधक होता है ?—भगवान ने कहा है कि—परद्रव्य, परक्षेत्र बाधक नहीं होते। हम तो परीक्षा कर रहे हैं।—यह मान्यता तो विष खाकर जीवित रहने जैसी अज्ञानी की मान्यता के समान है। स्वच्छंदी होकर शास्त्र की, निश्चयनय की ओर लेता है, वह अनंत संसारी-पापी ही है।

एक साधु वेशधारी आये और कहने लगे कि—निश्चय में ही आनंद है। मिट्टी, माँस, रोटी, स्त्री, पुरुष आदि भेद तो व्यवहार से ही हैं, वे निश्चय में कहाँ बाधक होते हैं ?—तो ऐसी बातें करनेवाले तत्त्वज्ञान की हँसी उड़ाते हैं अथवा निश्चयदृष्टि के नाम से संसार में तीव्र मोह-ममता का पोषण करते हैं; उनके लिये वीतरागता मार्ग नहीं है।

दही बिलोने की मथानी में एक रस्सी और उसके दो सिरे होते हैं। एक सिरे को ढील देकर दूसरे को खींचना पड़ता है; परंतु एक ही सिरे को खींचे तो मक्खन नहीं निकल सकता; उसीप्रकार मुख्य-गौण होनेवाले निश्चय-व्यवहार के दो पक्षों का ज्ञान और साधकदशा में अंशतः सरागता-वीतरागता का मेल कैसा होता है, उसे न जाने और अपना मनचाहा माने तो यह वीतराग का मार्ग नहीं है। फिर भले ही उसने दिगम्बर जैन साधु का वेश धारण किया हो, तथापि वह जैनमार्ग का विरोधी है।

आत्महित की साधना के लिये ही उपादेयरूप शुद्धात्मा को मुख्य करके निश्चय कहा और भेद-पराश्रय को गौण करके व्यवहार कहा है। व्यवहारनय की पद्धति और प्रयोजन जानकर, उसके आश्रय से वीतरागता नहीं है—ऐसा मानकर वीतरागता के लिये, भूतार्थ-निश्चयनय के आश्रय से उसका निषेध किया है—यह बात न समझे और शास्त्र का अर्थ करने जाये कि—देखो, शास्त्र में भी लिखा है कि व्यवहार का निषेध है, परद्रव्य से जीव को बंधन नहीं है; परद्रव्य से बंधन होता है—ऐसा मानेगा तो तू मिथ्यादृष्टि है। 'हे ज्ञानी! परद्रव्य से बंध की शंका छोड़, परद्रव्य का उपभोग

कर'—ऐसा क्यों कहा है ?—कि वहाँ तो भेदविज्ञान से वस्तुस्वभाव को जानकर नि:शंकता के लिये लिखा है कि—पर से बंध जायेगा—ऐसी शंका छोड़ ! उसके बदले कोई स्वच्छंदी बने तो उसे सच्ची श्रद्धा नहीं है। पर का उपभोग नहीं कर सकता, किंतु पर के उपभोग की वृत्ति कौन करता है ? ज्ञानी को तो साध्य-साधन का सुमेल और भूतार्थस्वरूप का परिग्रहण होता है।

भगवान आत्मा अभेदज्ञानमात्र है, उसकी श्रद्धा में अभेद होने पर भी चारित्र में अशक्ति जितना राग और राग का आचरण होता है; किंतु जिसे सर्वज्ञ कथित मार्ग से विपरीत श्रद्धा-ज्ञान का आचरण हो, वह महाव्रतों का पालन करे, तथापि मिथ्यादृष्टि है।

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् हेय-उपादेय के विषय में कोई नया निर्णय करना नहीं होता किंतु ज्ञान की निर्मलता के लिये नय-प्रमाण द्वारा तत्त्व का विचार आता है कि—यह श्रद्धा करने योग्य है, यह नहीं है; यह श्रद्धा करनेवाला है, यह श्रद्धान है; यह ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य है, यह अज्ञेय है; यह ज्ञाता है, यह ज्ञान है; यह आचरण करनेयोग्य है, यह आचरण के योग्य नहीं है, यह आचरण करनेवाला है और यह आचरण है—इसप्रकार कर्तव्य-अकर्तव्य, कर्ता-कर्मरूप विभागों के अवलोकन द्वारा जिन्हें सुंदर उत्साह उल्लसित होता है—ऐसे वे प्राथमिक मोक्षमार्गस्थ जीव धीरे-धीरे मोह-रागादि का उन्मूलन करते जाते हैं अर्थात् चारित्र की मर्यादा के योग्य वीतरागता और सरागता के भेद को जानते हैं और वैसा राग आये बिना नहीं रहता। एक साधु-नग्न दिगम्बर मुनि कहते थे कि हम तो निश्चय में रहनेवाले हैं, हमें व्यवहार से क्या काम है ?—तो ऐसी बात नहीं है। अकेले निश्चय का अनुभव तो सर्वज्ञ-वीतराग को है, उन्हें साधकदशा का अनुभव होता ही नहीं। अकेला व्यवहार तो मिथ्यादृष्टि के होता है। यहाँ तो भेदज्ञानरूप विवेकसहित निश्चयचारित्र की भूमिका में वर्तते हैं, वहाँ अंशत: वीतरागभाव के साथ इसप्रकार के शुभविकल्प होते हैं, उनका मेल बतलाते हैं।

सर्वज्ञ भगवान के कहे हुए नवतत्त्व जाननेयोग्य प्रयोजनभूत तत्त्व हैं। वे ज्ञेय हैं; उससे विरुद्ध अन्यमति द्वारा कहे हुए तत्त्व अज्ञेय हैं—ऐसा भेद-वासनारूप विचार और राग आता है, उसे हेय जानता है। अरे ! मेरे पुरुषार्थ की अशक्ति से यह राग की वृत्ति उठती है—पर के कारण राग आता है—ऐसा धर्मात्मा जीव नहीं मानता। जो बारम्बार अतीन्द्रिय आत्मानंद में झूलते हैं, ऐसे मुनि को भी छठवें गुणस्थान में ऐसे विकल्प होते हैं। कोई कहे कि—हमें कोई विकल्प नहीं है, नवतत्त्व के विकल्प नहीं आते, विनय, सत्यश्रवण, स्वाध्याय, शास्त्रज्ञान की आवश्यकता नहीं है, बस,

ध्यान करो! तो वह मिथ्यात्व का मंथन करता है। निर्विकल्प चारित्र की रमणता में पड़े हुए मुनियों में प्रधान गणधर को भी ऐसे विकल्प आये बिना नहीं रहते। ऐसे भेद को जानने में ज्ञान का रुकना होता है, उसका नाम व्यवहार है। ऐसा विकल्प उत्पन्न करूँ, उसे अपने आधीन नहीं मानते तथा किसी प्रकार के राग को करनेयोग्य नहीं मानते; परंतु उस काल ऐसा राग होता है, ऐसा जानना वह व्यवहारनय का प्रयोजन है।

परमोपकारी पूज्य कानजीस्वामी के पुनीत

विहार-समाचार

जोरावरनगर—फाल्गुन सुदी १३ को पधारे-खास प्रकार से स्वागत-प्रवचन जिनमंदिर में भक्ति, रात्रि में तत्त्वचर्चा।

रखियाल (अहमदाबाद-गुजरात)—फाल्गुन सुदी १४ पूज्य स्वामीजी—रखियाल स्टेशन पर व्यापारी मंडी है। वहाँ जिनेन्द्र-वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव निमित्त पधारे। रखियाल में करीब ६० हजार लागत का नया जिनमंदिर बना है, (प्रथम कोई मंदिर यहाँ नहीं था,) उसमें जिनेन्द्र भगवंतों की उपस्थिति में बड़ी रुचि से मनाया गया, गुजरात के दिगम्बर जैन समाज में से छह हजार उपरांत संख्या इस उत्सव में भाग लेने के लिये आयी थी, प्रतिष्ठाचार्य बूँदी निवासी पंडित श्री गेंदालालजी शास्त्री थे, मंडल विधान, इंद्रप्रतिष्ठा आदि विधि उपरांत रात्रि के समय दाहोद जिनेन्द्र भजन मंडली द्वारा भक्ति-भजन, उसमें गुजराती भाईयों द्वारा परम भक्तियुक्त नृत्य भगवान के सामने होते थे। गुजरात में धर्म प्रभावक श्री बाबूभाई (फतेपुर) का अच्छा प्रभाव है; इस अवसर पर भी उन्होंने असाधारण श्रम-उल्लास द्वारा सुंदर व्यवस्था करके उत्सव को सुशोभित बनाया था।

श्री बाबूभाई महेता ने अपनी धर्मपत्नी सहित आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार की। रखियाल की जिनेन्द्रवेदी प्रतिष्ठा गुजरात का एक महान उत्सव था, सवा लाख उपरांत रुपये की आमदनी मंदिरजी को हुई।

दो हाथी-रथ आदि अनेक विध सज-धज से प्रत्येक जुलूस की भारी शोभा थी। अंतिम रथयात्रा तो अद्‌भुत-उल्लासमय थी, उसे देखने के लिये आसपास गाँवों की जैन-अजैन जनता हजारों की संख्या में उमड़ पड़ी थी, चारों ओर बेशुमार भीड़ थी। मेहमानों के लिये १५० उपरांत टेन्ट तंबू बाँधकर नेमिनाथ नगर बसाया गया था।

पूज्य स्वामीजी इस समय एक घंटा तो समयसार कलश टीका और एक घंटा श्री पद्मनंदी पंचविंशति में से ऋषभ जिनस्तोत्र के ऊपर प्रवचन करते थे। जिनमंदिर में मूलनायक श्री नेमिनाथ भगवान और दोनों बगल में श्री पार्श्वनाथ तथा महावीर प्रभु विराजमान हैं। इस महान उत्सव मनाने के लिये रखियाल स्टेशन के जैन बंधु तथा श्री बाबुभाई को और गुजरात के साधर्मियों को धन्यवाद।

दहेगाम, सोनासण—फतेपुर और तलोद में पूज्य स्वामीजी पधारे थे वहाँ हरेक जगह गुजरात के धर्म जिज्ञासुओं ने उत्साह सहित लाभ लिया, बीच में कई देहातों के जैन भाईयों के बड़े भारी अनुरोधवश आधा घण्टे के लिये उनके गाँव में स्वामीजी पधारे; जहाँ जिनमंदिर थे उनके दर्शन भी किये। तलोद से सौराष्ट्र में बढ़वाणशहर, गोंडल और जेतपुर में पूज्य स्वामीजी पधारे, यहाँ भी स्वागत, प्रवचन, जिनमंदिर में भक्ति और रात्रि-प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम था। बाद—

पोरबन्दर शहर—तारीख १४-३-६४ से तारीख २१ तक यहाँ आठ दिन में पूज्य स्वामीजी द्वारा सबेरे समयसार पर श्री राजमल्लजी कृत कलशटीका और दोपहर में समयसारजी कर्ताकर्म अधिकार पर प्रवचन होते थे। धर्मजिज्ञासु श्रोतावर्ग बहुत बड़ी संख्या में ठीक समय पर हाजिर रहकर एकाग्रचित्त से सुनते थे, यहाँ अजैन समाज में से दिगम्बर जैन धर्म में समझ पूर्वक प्रवेश करनेवालों की संख्या बढ़ रही है और वे अपने जीवन का ढाँचा ऊँचे उठाकर अपूर्व शांति का लाभ पा रहे हैं इत्यादि कहकर अपना धर्म प्रेम बारंबार व्यक्त रहे थे। दोपहर ४.०० से ५.०० बजे तक जिनमंदिर में भक्ति तथा रात्रि को ७.०० से ८०.०० बजे प्रश्नोत्तर चर्चा का कार्यक्रम था।

[करीब ९२ में साल के वयोवृद्ध धर्मात्मा श्री वीरजीभाई बीमार हो जाने के समाचार से पूज्य स्वामीजी आधा घंटा राजकोट में उन्हीं के घर पर तारीख २१-३-६४ के दिन पधारे थे।]

लाठीशहर—(कलापीनगर) तारीख २२-३-६४

सावरकुंडला—तारीख २३ से ३०-३-६४ तक का कार्यक्रम था, बाद

आंकड़िया—तारीख ३१ मार्च तथा १ अप्रेल; उमराला तारीख २-३ अप्रेल;

सोनगढ़—आधा घंटा के लिये जिनमंदिर में दर्शन के लिये तारीख ४ सबेरे, बाद **गढ़डा**—तारीख ४-५; **पाटी**—तारीख ६; **राणपुर**—तारीख ७ से ११; **बोटादशहर**—तारीख १२ से १९ अप्रैल यहाँ जिनमंदिर में जिनेन्द्र वेदी प्रतिष्ठा का महोत्सव है, चैत्र सुदी ८ के दिन जिनबिम्ब वेदी प्रतिष्ठा संपन्न होगी। बाद में—

अहमदाबाद—महावीर जयन्ती के लिये—तारीख २५ से ३० अप्रेल तक, पांच दिन का कार्यक्रम है। यहाँ खाड़िया चार रास्ता विभाग में नया जिनमंदिर होनेवाला है। बाद बम्बई जाने के पूर्व, बीच में बड़ोदा, मियाँगाँव करजन, पालेज, सूरत आदि; और तारीख १-५-६४ चैत्र बदी ६ के दिन बम्बई नगरी में प्रवेश। वहाँ तारीख १३-५-६४ वैशाख सुदी २ को पूज्य कानजी स्वामी का हीरक जयंती महोत्सव, और तारीख २२-५-६४ वैशाख सुदी ११ के दिन दादर—श्री कहाननगर जैन सोसायटी में जिनमंदिर तथा समवसरण मंदिर में पंच कल्याणक प्रतिष्ठा का मुहूर्त है, उत्सव तो आगे से शुरु होगा।

वैशाख सुदी १५ बाद सोनगढ़—[बम्बई में पंच कल्याणक प्रतिष्ठा उत्सव पर भाग लेने के लिये ठहरने आदि की सुविधा के लिये पत्र यहाँ आते हैं, कृपया पत्र व्यवहार -व्य० श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षुमंडल ठि० १७३-७५, मुंबादेवी रोड, बम्बई नं० २ से करें।]

अफ्रीका—नाईरोबी शहर में तारीख ५-१-६४ जैन स्वाध्याय मंदिर के लिये शिलान्यास का महोत्सव हुआ था, उस समय आसपास के अनेक शहरों से अग्रणी उपरांत मोंबासा, मोशी आदि स्थलों से कुल ८०० संख्या में साधर्मी बन्धु एकत्र हुए थे, शिलान्यास के बाद जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा बड़ी धूमधाम से निकली थी, जिसमें भक्तजन नृत्य करते थे। दोपहर शास्त्र सभा में ४०० संख्या में श्रोता थे। श्री देवशीभाई पंडितजी ने पूज्य कानजी स्वामी का तथा सोनगढ़ की संस्था का परिचय दिया और श्री देवशीभाई की नि:स्वार्थ भाव से जैनधर्म की भक्ति प्रेम-उत्साह के फलस्वरूप नाईरोबी में अब वैशाख मास के पूर्व वह जैन स्वाध्याय मंदिर तैयार हो जायेगा। 'उसका उद्घाटन करके ही हम श्री देवशीभाई को विदा देंगे वहाँ तक छोड़ेंगे नहीं'—ऐसा वहाँ के साधर्मीजनों ने अपार स्नेह के साथ लिखा है। नाईरोबी के साधर्मीजनों को और श्री देवशीभाई को धन्यवाद।

[श्री देवशीभाई को एडन के साधर्मी बन्धुओं का अनुरोध भरा आमंत्रण होने से एडन होकर बम्बई पधारेंगे।]

ग्राहकों से निवेदन

आत्मधर्म का यह १२वां अंक पाठकों के पास पहुँच गया, इससाल अधिकमास दूसरा चैत्र मास भी आपको भेंट स्वरूप मिलेंगे इसके साथ ही वार्षिक मूल्य भी समाप्त होता है। सैद्धांतिक चर्चा के विस्तृत लेख ११ मास से शुरु किये हैं। उससे आपको डेढ़गुने पत्र पढ़ने को मिले हैं और धर्म जिज्ञासुओं को अच्छा संतोष प्राप्त हुआ है। मँहगाई के कारण ६ रुपये में लागत पड़ने पर भी घाटा उठाकर ३) रुपये सालाना ही चंदा रखा गया है। अत: ग्राहकगण आगामी वर्ष का वार्षिक मूल्य ३) रुपये मनीआर्डर द्वारा शीघ्र ही भेज देवें। मनीआर्डर से भेजने पर आपको वी.पी. खर्च ८५ नये पैसे की बचत होगी। अत: शीघ्र ही मनीआर्डर भेज दें, साथ में अपना ग्राहक नंबर, पूरा पता, पोस्ट व जिला आदि स्पष्ट लिखें।

किसी भी प्रकार की शिकायत के लिये सम्पादक-आत्मधर्म श्री जगजीवन बाउचंद दोशी, पोस्ट-सावरकुंडला (सौराष्ट्र) को लिखें। आत्मधर्म के ग्राहकों की संख्या बढ़ाने की चेष्टा अवश्य कीजियेगा। (गुजराती आत्मधर्म का ४) रुपया वार्षिक है।)

मनीआर्डर भेजने का पता—
आत्मधर्म कार्यालय, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
पोस्ट-सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

★

नवीन प्रकाशन जो छप रहे हैं—

१- श्री प्रवचनसारजी शास्त्र।

२- आत्मप्रसिद्धि—जिसमें ४७ शक्तियों पर पूज्य स्वामीजी द्वारा विस्तृत विवेचन है, वह छप रहा है।

३- द्रव्यसंग्रह छप रहा है।

४- प्रश्नोत्तरमाला भाग ३ तीसरी आवृत्ति छप चुकी है, बाइंडिग में हैं।

५- अपूर्व अवसर पर विस्तृत प्रवचन छप रहा है।

६- समयसार कलश टीका—जैनधर्म के मार्मिक कविवर श्री पंडित राजमल्लजी कृत बड़े टाइप में शुद्ध हिन्दी भाषा में छप रही है। ग्राहकगणों की बहुत जोरों से माँग है, करीब दो मास लगेंगे।

नया प्रकाशन

मोक्षाशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) तीसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकांत पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रंथ अवश्य पढ़नेयोग्य है, पत्र संख्या ९००, मूल्य लागत से बहुत कम मात्र ५) रखा गया है। पोस्टेज आदि अलग।

लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका (चतुर्थ आवृत्ति)

१८००० बुक छपकर बिक चुकी हैं, समाज में धर्म जिज्ञासा का यह नाप है। शास्त्राधार सहित संक्षेप में खास प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान की जानकारी के लिये यह उत्तम मार्ग दर्शक प्रवेशिका है। जैन जैनेतर सभी जिज्ञासुओं में नि:संकोच बांटने योग्य है। इंगलिश भाषा में भी अनुवाद कराने योग्य है। जिसमें अत्यंत स्पष्ट सुगम शैली से मूलभूत अति आवश्यकीय बातों का ज्ञान कराया गया है। बढ़िया कागज, छपाई, सुंदर आकार पृष्ठ संख्या १०५, मूल्य-सिर्फ २५ नये पैसे, पोस्टेजादि अलग।

पता:—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	जैन बाल पोथी	०-२५
प्रवचनसार	प्रेस में	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
नियमसार	५-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
पंचास्तिकाय	४-५०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तीसरी आवृत्ति)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
द्वितीय भाग	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
तृतीय भाग	०-६०	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन		जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
बृ० पूजा भाषा	०-७५		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

मई : १९६४ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, द्वितीय चैत्र, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : १३

द्वारपाल

द्वारपालीव यस्योच्चैर्विचारचतुरा मतिः।
हृदि स्फुरति तस्याघसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा॥१०॥

अर्थ—जिसके हृदय में द्वारपाल की भाँति हिताहित का विचार करनेवाली चतुर मति कल्लोल करती है, उसके हृदय में स्वप्न में भी पाप की उत्पत्ति होना कठिन है।

भावार्थ—जिस प्रकार चतुर द्वापाल अजनान, मैले-कुचैले और असभ्यजनों को घर में प्रविष्ट नहीं होने देता, उसीप्रकार समीचीन बुद्धि; पाप बुद्धि को हृदय में झाँकने भी नहीं देती।

(ज्ञानार्णव, संवर भावना श्लोक-१०)

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[२२८]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

गुजराती भाषा में नया प्रकाशन

मंगल-तीर्थयात्रा

वि० सं० २०१३ में पूज्य कानजी स्वामी ने १२०० यात्री सहित श्री सम्मेदशिखरजी आदि तीर्थधामों की यात्रा की थी। उस यात्रा के भाव भीने संस्मरणों तथा सैकड़ों चित्रों से सुशोभित 'मंगल-तीर्थयात्रा' नामक पुस्तक गुजराती भाषा में प्रकाशित हुई है। पढ़कर ऐसा अनुभव होता है मानों हम उन्हीं तीर्थधामों की यात्रा कर रहे हों।

पुस्तक के लेखक हैं श्री ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, यह पुस्तक बड़ी साइज में करीब १७) रुपये लागत की है, जो सज्जन मंगाना चाहते हों वे सिर्फ ८) रुपय एवं डाक खर्च २.५० नये पैसे अर्थात् १०.५० नये पैसे मनीआर्डर से भेजकर मंगा लेवें।

पता—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

पोस्ट-सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सूचना

कई ग्राहक बन्धु पुस्तक मंगाते वक्त सिर्फ पुस्तक की कीमत का ही मनीआर्डर करते हैं, डाक व्यय नहीं भेजते हैं। अतः डाक व्यय न आने से पोस्टेज की वी०पी० से पुस्तकें भेजी जावेंगी।

—प्रकाशक

हमारे आराध्य तीर्थनायक

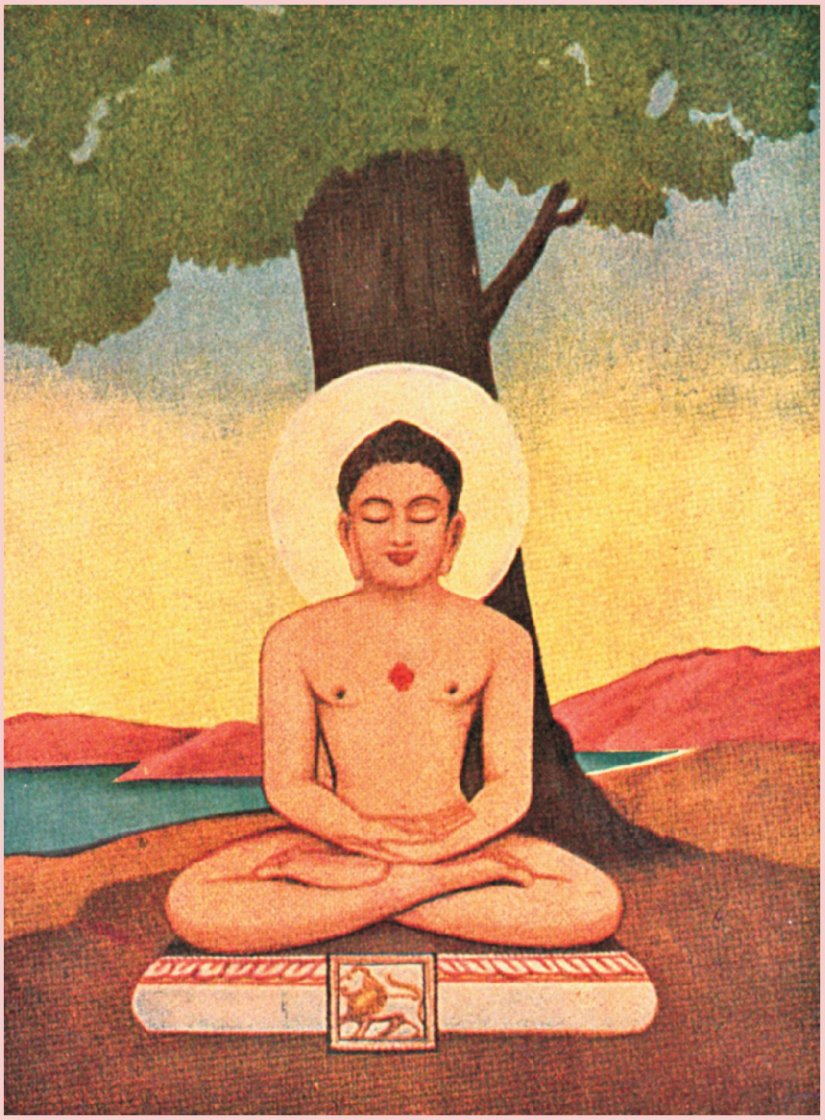

विश्व-वंद्य आदर्श-मंगलमय

भगवान महावीर परमात्मा

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

मई : १९६४ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, द्वितीय चैत्र, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : १३

हमारे आराध्य

भगवान महावीर

महावीर जयंती के अवसर पर पूज्य स्वामीजी का मंगल प्रवचन
तारीख ३०-१-६१ सोनगढ़

आज भगवान महावीर का जन्मकल्याणक दिन है। वे भरतक्षेत्र के अंतिम तीर्थंकर थे। इन्द्रों ने उनका जन्मोत्सव मनाया था। तीर्थंकर होने के कारण उनका जन्म बहुत जीवों को संसार से पार होने में निमित्त है। उनमें ऐसी महान योग्यता थी कि वे अपनी उन्नति क्रम में आगे बढ़ते-बढ़ते उग्र पुरुषार्थ करके परमात्मा हुए।

महावीर प्रभु को, यहाँ जन्म लेने के पूर्व भव में देह से भिन्न आत्मा का ज्ञान तो था ही; सम्यग्दर्शन प्राप्त करके आत्मा में अपूर्व वीररस प्राप्त किया था। आत्मा में अनंत शक्तियाँ एक ही साथ में हैं, ऐसी दृष्टि वर्तती थी।

सम्यग्दर्शन होने के बाद, मैं पूर्ण होऊँ व सर्व जीव धर्म को प्राप्त करें, ऐसा विकल्प आने से तीर्थंकरनामकर्म का बंध हुआ और कुंडलपुर में सिद्धार्थ राजा के घर त्रिशलादेवी की कुक्षि से जन्म लिया। आत्मा में तो अपार सामर्थ्य है, उनका अंतर में वेदन करनेवाले का जन्म हुआ। अंतर में भगवान आत्मा का मूल्य समझा, पूर्व अनंत काल में आत्मा का मूल्यांकन नहीं किया था, किंतु संयोग व पुण्य-पाप के विकार का ही मूल्य समझा था, उसी के गुणगान किये थे। कुलाँट मारकर

अंतर अवलोकन में वीर्य की शक्ति लगायी कि यह आत्मा अनंतज्ञानमय पूर्ण सामर्थ्यवाला है, परमात्मा होने के योग्य है, स्वभाव दृष्टि से देखने पर वर्तमान में भी मैं परमात्मा हूँ—ऐसी सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान पूर्वक उग्र पुरुषार्थ से आत्मा में स्थिरता द्वारा अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य प्रगट हुए।

अनंत गुणरूपी संपदा से भरे हुए अखंड स्वभाव में एकाग्र होकर पूर्ण हुए, इसलिये उनको जन्म से महान व तीर्थंकरपद के कारण पूज्य मानकर इन्द्र जन्मकल्याणक मनाने के लिये मेरु पर्वत पर ले जाते हैं। जन्म से ही उनके वज्रकाय (वज्र जैसा दृढ़ शरीर) होता है। जन्माभिषेक के समय क्षीरसमुद्र के जल से भरे हुए हजारों कलशों से स्नान कराते हैं, तथापि उन्हें किंचित् बाधा नहीं पहुँचती।

उनकी देह का रूप व आत्मा की महिमा अचिंत्य है। इन्द्र हजार नेत्र बनाकर देखता है तो भी उसे तृप्ति नहीं होहती। तीर्थंकर पुण्य में पूर्ण व पवित्रता में पूर्ण हैं। उनको पहिचानकर उनका जन्मकल्याणक असंख्य देवोंसहित इन्द्र मनाते हैं और कहते हैं कि—अहो! कैसा आत्मा! धन्य अवतार! इसप्रकार प्रशंसा करते हैं।

अज्ञान के कारण अनंत बार शरीर, वाणी पुण्य-पाप के विकार व उनके फल में बड़प्पन माना, उनकी महिमा और ममता में मरता रहा किंतु जब दृष्टि को बदलकर राग से अधिक अर्थात् राग से भिन्न व स्वभाव में परिपूर्ण होकर, अंतर में एकाग्रता करके पूर्णस्वरूप के अवलोकन में अपनी शक्ति को लगाया तो पूर्ण परमात्मा हो गये। ऐसे भगवान महावीर का जन्मकल्याणक महोत्सव इन्द्रों द्वारा मनाया जाता है।

अहो! इन्द्र आकर नृत्य करते थे, भगवान के माता-पिता के पास आकर ताण्डव नृत्य करके, भक्ति से उनकी महिमा गाते थे। इन्द्र एकावतारी है, इन्द्राणी भी एकावतारी है। वे भक्ति उल्लासपूर्वक नाचते हैं। अहो! यह आत्मा इसी भव में परमपवित्रता से परमात्मपद प्राप्त करेंगे। अनादि-अनंत संसार को तोड़कर इस भव में सादि-अनंत परमानन्द को पूर्ण करने का काम करेंगे।

इन्द्रों को खबर है कि हमने भी निर्मल श्रद्धा से आत्मा का श्रद्धान किया है; वह अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करना है।—ऐसी नि:शंक श्रद्धा है, फिर भी जैसे माता-पिता के पास बालक नाचता है, उसीप्रकार जगतपिता तीर्थंकर का जन्म देखकर इन्द्र नाच उठते हैं। अंतर में भेदज्ञान से आत्मा का भान है, बाहर में नम्रता-विनय है, इन्द्र स्वयं चौथे गुणस्थानवर्ती हैं। तीर्थंकर भी जन्म के समय में चौथे गुणस्थानवर्ती हैं, फिर भी उनको धर्म के नायक जानकर उनके प्रति ऐसी भक्ति का उल्लास इन्द्र को आ जाता है।

आज के मंगल दिन वीर भगवान ने जन्म लिया था, आत्मा का उत्तम वीर्य (बल) प्रगट करके अनेक योग्य जीवों को पवित्र आत्मबल प्रगट करने में निमित्त हुए; इससे उनका बहुमान लाकर, उनका कल्याणक यहाँ मना रहे हैं।

चैत्र सुदी १३ (संवत् १९९१) के दिन सोनगढ़ में आकर वेश परिवर्तन किया था, उसको आज २६ वर्ष पूर्ण होकर २७वाँ वर्ष प्रारम्भ होता है।

महावीर प्रभु ने तो परिवर्तन करके पर्यायरूप से संपूर्ण आत्मा बदल दिया, असंख्य प्रदेशों में अनंत केवलज्ञानरूपी अनंत सूर्य प्रगट करके परमात्मा हुए। उनके जन्मोत्सव पर, धन्य घड़ी धन्य अवतार, धन्य भाग्य! ऐसा इन्द्र-इन्द्राणी को भी भक्ति-उत्साह आता है। वीर प्रभु ने इस भव में भगवती दीक्षा अंगीकार की, चैतन्य के पूर्ण स्वरूप में इतनी प्रीति जागृत हुई कि चारित्रदशा में आनंदामृत के सागर उछलने लगे; आत्मा अमृत का सागर है। अंदर में पूर्ण आनंद भरा है। अंतर में एकाग्रता से अनुभव का सागर उछलने लगता है। उग्र पुरुषार्थ से केवलज्ञान प्राप्त किया व कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन, (चतुर्दशी की पिछली रात्रि में) पावापुरी से निर्वाण प्राप्त किया। केवलज्ञान पाने के बाद तीर्थंकर को, इच्छा के बिना उत्कृष्ट वाणी का योग होता है। उसको दिव्यध्वनि कहते हैं। उस दिव्यध्वनि का सार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने प्रगट किया है। उनको इस भव में तो भगवान महावीर का साक्षात् योग नहीं था, मात्र उनकी परोक्ष भक्ति थी, किंतु महाविदेह क्षेत्र में जहाँ साक्षात् सीमन्धर भगवान विद्यमान हैं, उनकी प्रत्यक्ष भक्ति की है। देखो, उनका पुण्य कैसा व पवित्रता कितनी?

श्री प्रवचनसार गाथा १७२ की टीका में अलिंगग्रहण के पाँच बोल निम्नप्रकार हैं— (१) इन्द्रियज्ञान से जानने का काम करे अथवा इन्द्रियों के आलंबन से जाने, उसे आत्मा नहीं कहते, (२) इन्द्रियों से जानने में आये, इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो, ऐसा आत्मा नहीं है; (३) इन्द्रियगम्य चिह्न द्वारा जानने में आये, ऐसा आत्मा नहीं है; (४) दूसरों के द्वारा—अकेले परोक्ष ज्ञान का विषय नहीं है; स्वसंवेदन ज्ञान में (निश्चय स्वज्ञेय में) जिसने अपने आत्मा को नहीं जाना, वे दूसरे के आत्मा को मात्र अनुमान से नहीं जान सकते। (५) आत्मा केवल अनुमान करनेवाला ही नहीं है; (६) बाह्य किसी चिह्न से, पराश्रय से नहीं किंतु जो अंतर्मुख-ज्ञानस्वभाव से ही जानने में आये, ऐसा आत्मा है।

अनंत काल से दूसरों की महिमा की, किंतु अपनी चैतन्य सत्ता का मूल्यांकन करना नहीं

आया। परद्रव्य के महात्म्य से स्वद्रव्य का महात्म्य नहीं आयेगा। शरीर, इन्द्रियाँ वगैरे साधन ठीक हों तो धर्म हो, व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग हो तो लाभ हो, इसप्रकार संयोग व विकार से आत्मा की महिमा माने, उसको आत्मा की प्रतीति नहीं है।

जो ज्ञान वर्तमान में पराश्रय में ढलता है, वह ज्ञान, स्वभाव की ओर ढले तो हित हो। अखंड स्वज्ञेय की ओर ढलने से ज्ञानस्वभाव के द्वारा जानने में आये, ऐसा आत्मा स्वानुभव प्रत्यक्ष है। आत्मनिर्णय में यथार्थपना लाकर, ज्ञान को अंतर्मुख करने से एकरूप स्वभाव के वेदन से ही सम्यग्दर्शन व भेदज्ञान होता है, उस भेदज्ञान को आत्मधर्म कहा है।

ध्रुव स्वभाव का लक्ष करके, स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष जाननेवाला, वह आत्मा है। उसमें इन्द्रियाँ अथवा शुभराग सहायक नहीं। शुभराग उस समय होता है, किंतु उसके कारण आत्मा में ज्ञातापना नहीं है।

अरे जीव! तेरी स्वतंत्रता तूने कभी नहीं सुनी। तीर्थंकर की वाणी में भी तेरे गुणगान पूरे नहीं गाये जा सकते, ऐसा तू है, किंतु संयोग व शुभराग की क्रिया से कल्याण मानकर ठगाया जाता है। व्रत, तप, दया के भावों से आत्मानुभव होगा, ऐसा कोई माने तो वह यथार्थ नहीं। देव, शास्त्र, गुरु आदि पर के आलंबन से अंतर में स्वभाव का महात्म्य नहीं आता। किसी को प्रश्न हो कि यदि ऐसा है तो मंदिर, मूर्ति व पूजा-भक्ति किसलिये? उसका समाधान—प्रथम भेदज्ञान होने से श्रद्धा-ज्ञान तो सम्यक् होते हैं, किंतु उसी समय चारित्र में पूर्ण वीतरागदशा नहीं होती। जबतक पूर्ण वीतराग न हो, तब तक भूमिकानुसार शुभराग होता है; किंतु इसके द्वारा आत्मा का अनुभव हो, ऐसा नहीं है। 'दया धर्म का मूल है, पापमूल अभिमान।' यह लौकिकजनों में पुण्य-पाप की बात है। यहाँ तो कहते हैं कि मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति ही स्व की हिंसा है। त्रिकाल ज्ञातास्वभाव की दृष्टि, उसका ज्ञान व उसमें स्थिरता, वह अहिंसा—स्वदया है। पर की दया के विकल्प आते हैं किंतु पर तेरे आधीन नहीं है। पर के प्रति करुणा का भाव आये, वह अलग बात है, किंतु उससे धर्म नहीं होता तथा वह धर्म का कारण भी नहीं है। अगर पर की रक्षा कोई जीव कर सकता हो तो प्रिय पुत्र और पत्नी वगैरे की मृत्यु क्यों हो जाती है? उनको मृत्यु से क्यों नहीं बचा सकता? प्रभु! तू अपने ज्ञान-अज्ञानमय भाव को कर सकता है, तू पर को नहीं बचा सकता, और न कोई दूसरा तेरा कुछ कर सकता।

भगवान आत्मा देह में रहते हुए भी देह से भिन्न आनंदधाम है। अनादि से उसका स्वभाव बेहद ज्ञान-आनंदमय है। अज्ञानी उसको भूलकर पर की आशा के कारण दुःखी हुआ करता है,

रागादि तथा शरीर-इन्द्रियों में अपना अस्तित्व मानकर उनका आश्रय करके दुःखी हो रहा है। यदि भेदज्ञान के बल से 'राग-शरीरादि मैं नहीं हूँ; मैं तो पूर्ण ज्ञाता, अतीन्द्रिय आनंदधाम हूँ—ऐसी प्रतीति करके स्वसन्मुख हो तो स्वानुभव प्रत्यक्ष अनुभव से आनंदमूर्ति आत्मा का वेदन होता है।

भाई! तेरा घर तो तेरे पास ही होगा न! लोक में कहते हैं कि—'मामा का घर कितनी दूर? दिया जले उतनी दूर!' उसीप्रकार आत्मा का घर कहाँ है? तो कहते हैं कि अंतर में जो चैतन्य जागृत वस्तु है, वही आत्मा का घर है। आत्मा चैतन्यप्रकाशशक्ति का पुंज है, यदि वहाँ एकाग्रता करे तो अपूर्व शांति का वेदन करनेवाले आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव हो। आनंद तो आत्मा का गुण है, राग का वेदन आत्मा का गुण नहीं है। बाह्य साधनरूप व्यवहार की श्रद्धा छोड़ दे, क्योंकि आत्मा तो अलिंग्राह्य है अर्थात् व्यवहार-निमित्त के आश्रय से वह ज्ञात नहीं होता।

यह अतीन्द्रिय ज्ञायकस्वभाव परिपूर्ण है—ऐसा माहात्म्य करने से अंतर में अपूर्व वेदन सहित जो भावभासन होता है, उसे आत्मसाक्षात्कार—स्वसंवेदन कहा जाता है। जिसे स्वसंवेदन हुआ, उसे मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हुआ, वह मोक्ष के पंथ पर चलने लगा—ऐसा कहा जाता है।

जो आत्मा को इन्द्रियवान मानता है, उसने आत्मा को माना ही नहीं। निश्चय के बिना व्यवहार का ज्ञान मिथ्या है। आत्मा इन्द्रियों से पर के काम नहीं कर सकता, भले ही कोई भ्रम से ऐसा माने। भाई! जिनके कारण तू नहीं है, उनसे (राग, व्यवहार, निमित्त से) तेरा साधन नहीं होता तथा उनके बिना तेरा साधन रुकता नहीं है। तू अनादि अनंत विज्ञानघन प्रत्यक्ष ज्ञाता है। प्रभु! तू देह, इन्द्रियाँ व राग के आश्रय से रहित पूर्ण है। बाह्य-मूल्यांकन भूल जा। विकल्पों से पार अकेला ज्ञान-शांतिमय आत्मा है, उसकी महिमा कर। आत्मा अखंड नित्य वस्तु है, उसमें श्रद्धा, ज्ञान, सुख, वीर्य आदि सब गुण पूर्ण व अखंड हैं—ऐसा निर्णय करके अंतरोन्मुख हो, उसको भेदज्ञान व सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञाता को आत्मा कहते हैं। विकल्प-राग का आलंबन छोड़कर अंतर्मुख दृष्टि करने से प्रत्यक्ष संवेदन होता है, अतीन्द्रिय आनंदमूर्ति आत्मा प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। इसप्रकार स्वयं अपने को स्व-संवेदन प्रत्यक्ष करना, उसका नाम धर्म है।

आत्मा का लक्षण उपयोग है। जो बाह्य पदार्थों के आलंबन से परिणमन करे, उसको आत्मा का उपयोग नहीं कहते। लक्षण के तीन दोष हैं—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव। लक्ष्य के एक अंश में (किसी समय) व्याप्त हो, उस लक्षण को अव्याप्ति दोषवाला कहते हैं जैसे—जीव का लक्षण रागादि अथवा केवलज्ञान। अतिव्याप्ति-लक्ष्य में तथा दूसरे में भी व्याप्त हो, जैसे-जीव को

अमूर्तिक मानने से आकाशादि अजीवद्रव्य में वह लक्षण चला जाता है। असंभव दोष—जैसे कि देह को आत्मा मानना; आत्मा पर का कुछ कर सके, यह असंभव लक्षण है। इस लक्षण से आत्मा की पहिचान नहीं होती। आत्मा का उपयोग ज्ञातादृष्टारूप है। पर निमित्त के आलंबन से जाने, उसको आत्मा का उपयोगलक्षण नहीं कहते। परलक्षी ज्ञान को आत्मा का उपयोग नहीं मानते। भगवान आत्मा एक समय में परिपूर्ण आनंदकंद है। पराश्रय से काम करे, वह आत्मा का लक्षण नहीं है। इन्द्रियाँ, देव, शास्त्र, गुरु, सम्मेदशिखर आदि सब परज्ञेयरूप हैं, उनका जो आलंबन करे, उस ज्ञान को आत्मा का उपयोग नहीं कहते, क्योंकि उससे आत्मा का स्वरूप नहीं जाना जाता। ज्ञानी को भी जब तक राग हो, तब तक सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के प्रति राग आता है, किंतु उसे वे अपना स्वरूप नहीं मानते, हितकर नहीं मानते।

आत्मा का सत्य स्वरूप समझे बिना अनंत बार अनंत अवतार व्यर्थ गये, कुत्ते के पिल्लों और चींटियों की भाँति मृत्यु हुई। बाह्य में दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रतादि में आत्मा का धर्म मानकर, क्रियाकांड के झंझट में पड़कर आत्मा के परमात्मपने को भूल गया। ग्यारह अंग, नव पूर्व का ज्ञान भी परावलंबी ज्ञान है, उससे अंतर का उपयोग प्रगट नहीं होता। चैतन्य की जागृति को उत्पन्न न होने दे, उसको आत्मसंपदा—आत्मा का उपयोग नहीं कहते।

देहादि, स्त्री-धनादि तथा देवादि परपदार्थों में उपयोग लगाये तथा उन्हें हितकारी माने, उसको आत्मा की व उसके लक्षण की प्रतीति नहीं। यह समझे बिना उद्धार नहीं; यह समझने पर ही उद्धार हो सकता है; उसका दूसरा कोई उपाय नहीं। तेरे अंतरगृह में जानने की क्रिया है, परालंबनरूप ज्ञान को आत्मा का उपयोग नहीं कहते, पराश्रय से विमुख होकर स्वसन्मुख हो, उसे उपयोग कहते हैं।

उपयोग तेरे आत्मा का है, वह पर का अवलंबन करे तो उसे उपयोग नहीं कहते, क्योंकि उसने पर के साथ संधि की और स्व की संधि को तोड़ा। अंतर में झुककर स्वसन्मुखता करे, उसको उपयोग कहते हैं। आत्मा को छोड़कर शास्त्र में भटकनेवाली बुद्धि को व्यभिचारिणी कहा है। शुभ विकल्प के समय परज्ञेय का आलंबन होता है।

प्रश्न—शास्त्र न पढ़े, उनमें उपयोग न लगाये तो ज्ञान कैसे होगा ?

समाधान—जिज्ञासा व राग के समय शास्त्र का आलंबन होता है, किंतु उसे स्वावलंबी ज्ञान नहीं कहते। स्वरूप को समझने या विशेष ज्ञान की निर्मलता के लिये शास्त्र पढ़ने का विकल्प

उठे, यह बात अलग है, किंतु जो उसमें संतोष मान लेते हैं, उन्हें यह समझना आवश्यक है। सत्य श्रवण छोड़कर पाप का आलंबन करने की यह बात नहीं है, किंतु शास्त्रादि परज्ञेय-सन्मुख ज्ञान से अंतर्मुख नहीं हुआ जाता।

जिसने परनिमित्त के लक्ष्य में ज्ञान को जोड़ दिया है व ऐसा मानता है कि इससे धीरे-धीरे धर्म होगा, उसकी यह मान्यता विपरीत है। यह आत्महित क्या है, उसे नहीं जानता। श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि जो शास्त्रों में ही बुद्धि को भ्रमाता है, उसको अंतर में आत्मा का अनुभव कराने के लिये उसका निषेध किया है, किंतु बिल्कुल निषेध करना तो बड़ा अविवेक है, उससे तो पाप के परिणाम होंगे। शुभ का निषेध करने का हेतु स्व में लीनता करने का है। सम्यग्दर्शन का मूल विषय समझाना है। अशुभ से बचने के लिये शुभभाव आता है, तथापि श्रद्धा में पहले से ही पुण्य का निषेध है। उसका आलंबन छोड़कर स्वरूप में एकाग्र होने के लिये यह उपदेश है। निज आत्महित में झुकाव नहीं है, ऐसे पंडित को आचार्यदेव ने कहा है कि पंडितों का संसार शास्त्र है। मन-इन्द्रियों के अवलंबनसहित ज्ञान आत्मा का नहीं है, किंतु जो अखंड स्वभावी आत्मा में लीन हो, वह आत्मा का ज्ञान—उपयोग है।

भगवान महावीर ने ऐसा पुरुषार्थ किया, इसलिये उनका मंगलमय कल्याणक मनाया जाता है। पूर्ण दशा, पूर्ण स्वभाव के अवलंबन से प्रगट हुई, वह नित्यस्थायी रहेगी, उसका अब कभी अंत नहीं आयेगा। पर के लक्ष से विकार में रुकता था, उसका नित्यस्वभाव के आश्रय से अंत आ जाता है। अंतर्मुखदृष्टि, लक्ष एवं स्थिरता अखंड हो जाने पर उसमें मलिनता कभी उत्पन्न नहीं होगी। देव, शास्त्र, गुरु, छह द्रव्य, नवतत्त्व आदि की ओर का उपयोग, सो व्यवहार है, वे सब निश्चय से आदरणीय नहीं हैं। श्रद्धा में या चारित्र में उनका आश्रय करने से लाभ होता है—ऐसा ज्ञानी कभी नहीं मानते। मात्र एक स्वद्रव्यस्वभाव के अवलंबन से कार्य करे, उसी को आत्मा का उपयोग कहा है।

स्वतन्त्रता का सत्य सिद्धान्त

वीतरागता के लिये ही है

सोनगढ़, श्री समयसारजी गाथा ४०५ से ४०७ दिनाँक १३-८-६२

[धर्म जिज्ञासुओं से विशेष प्रार्थना है कि यह लेख अपूर्व दृष्टि से मध्यस्थता से, धैर्य से पढ़ें और अनादि काल से इस जीव की सबसे बड़ी भूल कैसे चली आई है ? वह कैसे मिटे ?]

निमित्त तथा व्यवहार के कथन का उसके शब्दों के अनुसार ही अर्थ मान ले, उसे निश्चय अथवा व्यवहारनय का ज्ञान ही नहीं है परंतु विरोधभाव है। ज्ञान को देह की शंका कैसे की जायेगी ? ज्ञान अर्थात् आत्मा। ज्ञान को शरीर ही नहीं है, तो उसको पुद्गलमय आहार कैसे होगा – ऐसे अर्थ को स्पष्ट करने के लिये गाथा कही है –

गाथा का अन्वयार्थ – इसप्रकार जिसका (भेदज्ञानी का) आत्मा अमूर्तिक है, वह वास्तव में आहारक नहीं है; (अज्ञानी की निमित्त और राग के ऊपर ही दृष्टि है, इसलिये वह भले ही माने कि मैं अभी मूर्तिक हूँ, उसकी यहाँ बात नहीं है) आहार तो मूर्तिक है, कारण कि वह पुद्गलमय है। जो परद्रव्य है, उसका ग्रहण–त्याग नहीं किया जा सकता। आत्मा में भले ही प्रायोगिक अर्थात् अशुद्धभाव हो या वैस्रसिक (स्वाभाविक शुद्ध) भाव हो, ऐसा ही आत्मा का गुण है अर्थात् पर का कुछ कर सके, ग्रहण या त्याग करे – ऐसा कोई गुण आत्मा में नहीं है।

इसलिये जो विशुद्ध आत्मा है (मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसा अनुभव करनेवाला आत्मा है)। वह जीव तथा अजीवद्रव्यों में कुछ भी ग्रहण–त्याग करता हूँ, कर सकता हूँ – ऐसा नहीं मानता। यहाँ पर ज्ञान कहने से आत्मा समझना, क्योंकि अभेद की अपेक्षा से लक्षण में ही लक्ष्य का व्यवहार किया जाता है। इसप्रकार आत्मा को ज्ञान ही कहते आये हैं।

टीका – ज्ञान अर्थात् आत्मा कुछ भी (किंचित् भी) परवस्तु को तथा उसके कार्य को ग्रहण नहीं करता तथा छोड़ता नहीं है, कारण कि विभाव के सामर्थ्यरूप ज्ञान द्वारा उसीप्रकार स्वाभाविक गुण के सामर्थ्य से परद्रव्य का ग्रहण तथा त्याग अशक्य है। अमूर्तिक आत्मा को मूर्तिक आहार नहीं होता; इसलिये ज्ञान (आत्मा) आहारक नहीं है। इसलिये ज्ञान को देह की शंका नहीं करना

चाहिये। जड़कर्म-नोकर्मादिरूप आहार मूर्तिक है; आत्मा सदा अमूर्तिक है; अरूपी, अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, इसलिये निश्चय से या व्यवहार से जीव पर का कुछ नहीं कर सकता। मैंने खाया, पिया, लिया, दिया, मैंने आहार छोड़ा - यह असद्भूत व्यवहारनय का कथन है। लेकिन इसका अर्थ इसप्रकार है कि—उसके कार्य को तथा परद्रव्य को जीव ग्रहण कर ही नहीं सकता कि उसे छोड़े! यह जीव 'मैं ज्ञानमय हूँ'—ऐसा भान भूलकर ममता कर सकता है, मैं उसे ग्रहण कर सकता हूँ इत्यादि माने अर्थात् ज्ञान को भूलकर इच्छा करे, किंतु कोई जीव पर का कुछ भी नहीं कर सकता; मात्र इस जात का राग रागी जीव को आता है, ऐसा बताने के लिये पर के ग्रहण-त्याग का कर्ता कहना, वह कथनमात्र है।

जैसे, दीवाल के ऊपर भैंस, गाय इत्यादि पशुओं के चित्र हैं, तो उस चित्र की गाय निश्चय से अथवा व्यवहार से दूध देगी—ऐसा होना असंभव है, उसीप्रकार आत्मा नित्य अमूर्तिक होने से शरीर का, वचन का, हाथ पैर हिलाने का, परवस्तु को पकड़ने का, प्रेरणा, प्रभाव डालना आदि कोई भी कार्य नहीं कर सकता। भाषावर्गणा में से भाषा उत्पन्न होती है, अपनी इच्छा तो निमित्तमात्र है। किसी भी प्रकार से भाषा का कार्य जीव का नहीं है।

लेकिन हम तो प्रत्यक्ष देखते हैं कि मनुष्य पहाड़ को तोड़ डालते हैं, नदी के प्रवाह को बदल देते हैं, यह सब कैसे होता है ?—वह तेरी संयोग की ओर से देखने की, दृष्टि की विपरीतता है। परद्रव्य में प्रत्यक्षपना नहीं है, ज्ञान में प्रत्यक्षपना परोक्षपना है। संयोगी दृष्टिवाला दो भिन्न द्रव्यों को भिन्न अर्थात् स्वतंत्र नहीं मानता, दोनों को एक मानकर देखता है; इसलिये वह शास्त्र का अर्थ भी विपरीत करता है तथा सर्वत्र विपरीत ही देखता है।

शास्त्र में व्यवहार के कथन बहुत आते हैं। ऋद्धिधारी मुनि को शुभ तैजस समुद्घात की इच्छा हो तो उनकी ऋद्धि से रोग, अकाल नष्ट हो जाते हैं; उस क्षेत्र में प्रजा निरोगी हो जाती है और सुकाल हो जाता है। वास्तव में मुनि के द्वारा रोग नष्ट हुआ है, ऐसा उसका अर्थ नहीं है, किंतु ऐसा कार्य होने के समय किस जीव को किसप्रकार का राग था, उसमें निमित्त कौन था, यह बताने के लिये व्यवहार का कथन है।

सामनेवाले पदार्थ में जिस काल में जो शक्ति अर्थात् योग्यता है, वह उसके काल में ही प्रगट होती है। प्रत्येक पदार्थ अपने से ही ध्रुव रहकर निरंतर नयी-नयी अवस्था में बदलता है—ऐसा वस्तु का स्वभाव है; उसे कौन कर सकता है ?

ज्ञानी ऐसा स्वतंत्र स्वरूप जानता है। अनंत परद्रव्यों से मैं निकम्मा हूँ। मैं पर के काम नहीं आ सकता तथा अनंत परद्रव्य मेरे कार्य के लिये निरर्थक ही हैं। स्त्री, पुत्र, मकान, वस्त्र, पुस्तक आदि तथा पास में—एक ही क्षेत्र में—विद्यमान शरीर का कार्य भी आत्मा नहीं कर सकता।

एक आत्मा दूसरे आत्मा का कोई कार्य नहीं कर सकता, परंतु अपने में ही रागादि या पराश्रय की मान्यता तथा कर्तृत्व-ममत्व कर सकता है। ज्ञायक शक्ति के द्वारा ज्ञातास्वभावी होने से स्व-पर को जान सकता है, किंतु पर का कुछ करे तथा पर अपना कुछ करे, ऐसा कोई गुण अर्थात् योग्यता आत्मा में नहीं है। संयोगीदृष्टि, स्थूल दृष्टिवालों को यह बात बहुत कठिन लगती है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय से सत् है, पर से सत् नहीं है—यह अनेकांत सिद्धांत उन्होंने जाना ही नहीं।

एक द्रव्य में दूसरे पदार्थ के द्रव्य-गुण-पर्याय का अत्यंत अभाव है, प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण की पर्याय अपने में स्वयं छह कारक की शक्ति से प्रत्येक समय में उत्पाद-व्यय करती ही रहती है; उसके कार्य के लिये एक समय भी किसी की राह नहीं देखनी पड़ती। यह परम सत्य और स्वतंत्र सत्ता की बात संयोग की ओर से देखनेवाले को अर्थात् संयोग की दृष्टि से देखनेवाले को संयोग में एकत्वबुद्धिवाले को समझ में नहीं आती। वस्तु के सत्य स्वरूप को न माननेवाला स्वसन्मुख हो ही नहीं सकता। वह निजशक्ति की महिमा को नहीं देख सकता, इसलिये दुःखी होता है। सुख-दुःख का सच्चा स्वरूप तथा कारण को नहीं जानता; इसलिये उसका दुःख भी दूर नहीं होता।

अज्ञानी भले ही करोड़ों वर्ष तक व्रत, तप, भक्ति, जाप आदि के शुभभाव करता रहे, परंतु उस मंदकषाय में मिथ्यात्वरूपी पहले नंबर का बड़ा पाप (अर्थात् दुःख) नष्ट करने की भी शक्ति नहीं है, इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि सत्य को न समझकर स्वच्छंदता में, पाप में प्रवर्तन करना।

कोई भी जीव दूसरे का भला-बुरा नहीं कर सकता, किंतु राग का सद्भाव होने के कारण उसकी भूमिका अनुसार शुभ-अशुभराग आये बिना नहीं रहता। जीव मोह के कारण ऐसा मानता है कि मैं कुछ करूँ, उसका सुधार करूँ, उसका बिगाड़ दूँ, आदि ऐसा राग-द्वेष आता है। भले ही ऐसा माने कि मैं हूँ तो उसका कार्य हुआ; इत्यादि लेकिन एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का किसी भी प्रकार से कुछ भी नहीं कर सकता। **यदि वास्तव में पर के कार्य का कर्ता बन सकता हो तो दो द्रव्य भिन्न नहीं रहेंगे।—यह तो अनादि-अनंत काल के लिये अबाधित सिद्धांत है।**

वस्तु सत्रूप से है कि नहीं ? है तो वह अपने से ही, पर से नहीं है, पर के कारण नहीं है।

इसलिये अपने से ही नित्य ध्रुव रहकर निरंतर नयी-नयी अवस्था अपने में ही उत्पन्न करती है, तथा पुरानी अवस्था बदलती है—**यह पर्यायस्वभाव भी प्रत्येक को अपने से ही है, पर से नहीं है—ऐसी स्वतंत्रता होने पर भी न माने, न जाने, तो वह दो द्रव्यों को भिन्न नहीं मानता, किसी को स्वतंत्र नहीं मानता। प्रत्येक पदार्थ पर से भिन्न हैं और अपने-अपने द्रव्यस्वभाव, गुणस्वभाव तथा पर्यायस्वभाव से सत्‌रूप से है—यह सिद्धांत जाने तो सभी विवाद नष्ट हो जाये।**

प्रश्न—जीव द्रव्यदृष्टि से स्वतंत्र है, परंतु वर्तमान पर्याय में तो परतंत्र है न ?

उत्तर—नहीं, स्वयं ही निजशक्ति से परतंत्रभावरूप परिणमित होता है। जीव संसारदशा में विकारी अवस्थारूप कर्ता, कर्म (कार्य), करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण, ये छहों कारक (कारण) शक्ति से स्वतंत्र हैं—तत्संबंधी अज्ञानता के कारण परतंत्रता मानकर जीव व्यर्थ दुःखी होता है। इसप्रकार जो प्रारम्भ से ही पर्याय में स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं करता, उसमें क्षणिक विकार से भिन्न त्रिकाली ज्ञानस्वभाव को स्वीकार करने की शक्ति भी नहीं है। संयोग, निमित्त उनके स्थान में होते हैं, किंतु उनसे उपादान में कार्य होता है, ऐसा माननेवाले को दो द्रव्यों की एकताबुद्धिरूप बड़ा भ्रम है।

सर्वज्ञदेव आदेश देते हैं कि—आत्मा शुभाशुभ विकारी भाव करता है तो करो। पर का कर्ता, भोक्ता, स्वामी हूँ—ऐसा माने तो वह अज्ञान है। अपनी दशा में ज्ञान-अज्ञान, विकारी-अविकारीभाव करने की शक्ति है, किंतु पर में कुछ भी करने की शक्ति (सामर्थ्य) किसी भी आत्मा में नहीं है। **तीन काल-तीन लोक में पर के द्वारा किसी का कार्य नहीं बन सकता।**

संयोगीदृष्टिवाले निमित्त को वास्तव में कर्ता मानते हैं तथा कहते हैं कि—'देखो, निमित्त का सामर्थ्य! भगवान महावीर को केवलज्ञान होने पर भी ६६ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं छूटी और गौतम आये, तब दिव्यध्वनि छूटी; इसलिये निमित्त की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, निमित्त के बिना कार्य नहीं होता।' यह बात त्रिकाल असत्य है। निमित्त को कारण कब कहा जाता है ? कि जब उपादान (निजशक्ति) स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, तभी निमित्त को उपचार से कारण कहा जाता है। निमित्त अपनी ही योग्यता से उसके काल में आता है, वह भी अपनी उपादान की योग्यता से नियमितरूप से वर्तता है। इन्द्र का भी सामर्थ्य नहीं है कि उसके स्वकाल के पूर्व कार्य को ला सके।

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के परमाणुओं का बंध होता है, उसमें प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग की रचना, वह परमाणु के आधार से उसकी उपादान की योग्यता से होती है; जीव

उसका कर्ता किसी भी प्रकार से नहीं है, तथापि कर्ता कहना वह असद्भूत व्यवहारनय का कथन है।

यहाँ तो ऐसा बताते हैं कि आत्मा जड़कर्म का कर्ता, भोक्ता तो नहीं किंतु अपनी अवस्था में अपनी भूल के प्रमाण में जितना राग उत्पन्न होता है, उतने ही प्रमाण में नये कर्म बँधते हैं, ज्ञान संबंधी विरोधभाव (कषायभाव) करे, उतने प्रमाण में ज्ञानावरणीयकर्म का बंध होता है; मिथ्यात्वभाव जैसा तीव्र मंद करे, उतने प्रमाण में दर्शनमोहनीय कर्म का बंध होता है, और जिसप्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ करे, उसके प्रमाण में चारित्रमोहनीय नाम के जड़कर्म का बंध होता है—यह व्यवहार-कथन निमित्त-नैमित्तिक का ज्ञान कराके, पराश्रयरूप मूर्खता छुड़ाने के लिये है किंतु परद्रव्य आदि उसको परेशान करे और उसके आधीन जीव को राग-द्वेष, सुख-दुःख हो, ऐसी मिथ्याश्रद्धा करने के लिये शास्त्र का कथन नहीं है।

चारित्रमोहनीयकर्म के उदय के समय जीव में विकार होता है—इसका अर्थ ऐसा नहीं कि जड़कर्म जीव को बिगाड़ता है; किंतु जीव स्वयं ही अपनी पर्याय से पलटता है; जीव और पुद्गल प्रत्येक समय में अपनी-अपनी योग्यता से पूर्ण स्वतंत्रता से नवीन-नवीन पर्यायरूप कार्य करता है। कोई किसी की राह देख के निकम्मा रहे, ऐसा कभी नहीं होता।

इस गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि—कोई भी जीव ज्ञान द्वारा पर का कुछ भी नहीं कर सकता। राग-इच्छा द्वारा भी पर का कुछ नहीं कर सकता। अहो! आत्मा अत्यंत निकट स्थित जड़ देह की भी कोई क्रिया नहीं कर सकता; मात्र अहंकार से ऐसा मानता है।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो लोग चाहे जैसे पाप करेंगे, कोई दया, दान, पुण्य नहीं करेगा?

उत्तर—पर का करना या न करना, यह जीव के आधीन नहीं है, किंतु आत्मा स्वयं ही अपनी दशा में पुण्य-पाप के भाव कर सकते हैं; अविवेक से विपरीत मान सकता है। भेदविज्ञान द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कर शुद्धभाव भी अपने में ही कर सकता है। एकांत नियतिवाद, क्रमबद्धपर्याय का नाम लेकर, अथवा कर्म के उदय का नाम लेकर, शरीर की क्रिया काम-भोग आदिरूप होनेवाली ही थी, उसमें आत्मा के भले-बुरे भाव का कुछ संबंध ही नहीं है—ऐसा मानकर कोई स्वच्छंदी हो जाय तो वह पाप बाँधकर नरक-निगोद में जायेगा, ऐसे अपात्र जीव का दृष्टांत देकर जो द्रव्यानुयोग शास्त्र के उपदेश का निषेध करते हैं, वे मूलभूत सत्य का निषेध करते हैं।

निमित्तकर्ता का कथन आता है; ऐसा राग भी आता है, लेकिन निमित्त से कोई कार्य होता है, यह बात तीन काल-तीन लोक में असत्य है। यहाँ पर आचार्यदेव, स्वतंत्रता का सत्य सिद्धांत बतलाकर वीतरागता ही दर्शाते हैं। पर में तथा रागादि में एकताबुद्धि, कर्ताबुद्धि छोड़कर, अकर्ता

अर्थात् स्वसन्मुख ज्ञातपने में ही सुख है - ऐसा बताते हैं।

यहाँ स्पष्ट कहा है कि—आत्मा अपनी स्वाभाविक दशा के सामर्थ्य से या रागादि विकारी पर्याय के सामर्थ्य से पर का ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता; क्योंकि जीव में पर का कर्ता बनने की योग्यता नहीं है, उस कार्य के लिये असमर्थ ही है, और ज्ञातृत्व के कार्य में परिपूर्ण समर्थ है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, हर्ष, शोक द्वारा अथवा ज्ञान द्वारा शरीर की अवस्था को, पर की अवस्था को आत्मा बदल दे, यह अशक्य है। तीन दिन तक मैं मौन रहूँगा, फिर बोलूँगा, तुम धीरे से बोलना, जोर से मत बोलो! किंतु बोलता कौन है? यह सब भाषावर्गणा के पुद्गलों का कार्य है, जीव तो इच्छा और पर में कर्तापना का मात्र अभिमान कर सकता है, अथवा विवेक द्वारा सच्चा ज्ञान कर सकता है। अविवेक, राग, द्वेष विषय-वासना का भाव, वह पाप भाव है—ऐसे पाप भाव स्वयं करे, और माने कि यह तो शरीर की क्रिया है, अथवा जड़ कर्म के उदय से होते हैं, मेरे भाव में दोष नहीं है—ऐसा कोई कहे तो वह महामूढ़ है।

शास्त्र का तथा उपदेश का तात्पर्य स्वतंत्रता, यथार्थता और वीतरागता ग्रहण करने के लिये ही है, इसके अलावा पाप की रुचि का पोषण करने के लिये ऐसी बातें बनाये तो वह पापी ही है और ऐसे स्वच्छंदी का नाम लेकर सत्य सिद्धांत की हँसी उड़ाये, वह भी पापी ही है, धर्म का विरोध करनेवाला है। पुण्य-पाप बाहर से नहीं आता।

बाहर की वस्तु उसके काल में आती है। निमित्त का संयोग, वियोग आत्मा नहीं कर सकता। पर के कार्यों में अपना कर्तापना माननेवाला सर्वज्ञ को नहीं मानता, सर्वज्ञकथित तत्त्व का स्वरूप क्या है, उसका उसे ज्ञान नहीं है। तत्त्वार्थों को जानकर जीव का कोई अंश अजीव में न मिलाये, तथा अजीव का कोई अंश जीव में न मिलाये; व्यवहार से कर्ता अर्थात् परद्रव्य किसी का कर्ताहर्ता नहीं है परंतु निमित्तमात्र है—**ऐसा जानकर, सर्वत्र स्वतंत्रता का स्वीकार करके अपनी आत्मा में वीतरागी दृष्टि और शांति प्रगट करना, यह एक ही प्रयोजन है।**

आत्मा में ऐसा कोई गुण नहीं है कि इच्छा द्वारा या ज्ञान द्वारा पर का कुछ कर सके। ज्ञानावरणीय आदि द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्म हैं, वे अपनी बंधन-मुक्तिरूप शक्ति सहित वर्तते हैं, वे अपने कर्ता आदि छहों कारणों से पलटते हैं, जीव के द्वारा उनका ग्रहण-त्याग नहीं हो सकता; क्योंकि आत्मा सदा अमूर्तिक ही है। पर को कौन छोड़ सकता है? और कौन ग्रहण कर सकता है?—यह तो निमित्त के कथन की रीति है। आत्मा अमूर्तिक है, मूर्तिक नहीं, इससे मूर्तिक

पुद्गलमय देह तथा आहार का कर्ता, भोक्ता या स्वामी नहीं है। व्यवहार के कथन को निश्चय का कथन माननेवाला सत्य समझने के योग्य नहीं है। **व्यवहार से आत्मा पर का कुछ कर सकता है, हम व्यवहार से आहार-जल का ग्रहण कर सकते हैं, त्याग कर सकते हैं—ऐसा माननेवाले को वस्तुस्वरूप का निर्णय ही नहीं है।** अजीव में ज्ञान नहीं है, इसलिये जीव के आधार से उसका कार्य होगा—ऐसी मान्यतावाला अजीवतत्त्व को शक्ति रहित मानता है।

जीव नित्य ज्ञानस्वरूप है, सहज ज्ञानस्वभावी है, अपने ज्ञानमात्र भाव का कर्ता, भोक्ता स्वामी है—ऐसा वस्तुस्वरूप है। उससे विरुद्ध अज्ञानी मानता है, परंतु कर्म, नोकर्म, शरीरादि का ग्रहण-त्याग आत्मा नहीं कर सकता। अनादि काल से अपने को भूलकर पुण्य-पाप के भाव किये हैं, उस अपेक्षा से कहते हैं कि जीव शुभाशुभ विभावरूप, मिथ्यात्वरूप परिणमन कर सकता है, परंतु पर की क्रिया का कर्ता कभी भी नहीं हुआ।

दिगंबर जैन मुनि का भेष धारण करके माने कि मैंने पर का त्याग किया, मैं शरीर की क्रिया कर सकता हूँ, मोर पींछी मैंने ली है—इसप्रकार परद्रव्य की अवस्था में अपना कार्य माने, उसे स्वतंत्र तत्त्व का भान नहीं है। अन्यधर्म से जैनधर्म में क्या विशेषता है, इसका उसे ज्ञान नहीं है।

एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का सर्वप्रकार से अभाव होने के कारण अनादि काल से आज तक कोई भी पदार्थ पर का कुछ नहीं कर सका, पर के द्वारा, किंचित्मात्र भी किसी का ग्रहण-त्याग नहीं होता। आत्मा सदा अमूर्तिक ज्ञानस्वरूप है, इसलिये ज्ञान को देह की शंका नहीं करना चाहिये। एक की एक बात बारंबार क्यों कही जाती है ? कि यह जीव बारंबार यह भूल में भूल कर रहा था, अब भूलरहित वस्तुस्वरूप की दृढ़ता के लिये बारंबार है।

'द्रव्य संग्रह' नाम का प्राचीन ग्रंथ है; उसकी टीका में ब्रह्मदेवसूरि ने स्पष्टीकरण किया है कि—व्यवहारनय से आत्मा को पुद्गलकर्म का कर्ता कहा है, वह तो तत्संबंधी राग का कर्तापना अशुद्धनिश्चयनय से बताने के लिये कहा है; लेकिन हाथ-पैर चलाना आदि पर की क्रिया का कर्ता जीव है—ऐसा उसका अर्थ किसी भी प्रकार से नहीं समझना। आत्मा आँख की हलन-चलनरूप क्रिया को नहीं कर सकता। पलक उसकी शक्ति से हिलती है, अज्ञानी की संयोग में एकताबुद्धि होने से पर में कर्तापना अहंकार करता है। **पराश्रय की श्रद्धावाले जीव निमित्तकर्ता के व्यवहारकथन को निश्चयनय का कथन मानकर मिथ्यात्व का ही सेवन करता है। मैंने ग्रहण किया, मैंने दान दिया, मेरे द्वारा समाज के इतने कार्य हुए—इसप्रकार जीव व्यर्थ ही कल्पना किया करता है।**

भावार्थ—आत्मा तो नित्य अमूर्तिक ज्ञानरूप है, इसलिये आत्मा का ज्ञान ही शरीर है, परमार्थ से आत्मा को जड़ शरीर नहीं है तो फिर मूर्तिक आहार आदि परवस्तुओं का ग्रहण-त्याग किसप्रकार कर सकता है ? तथा आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है कि वह परद्रव्य को तो ग्रहण करता ही नहीं, स्वयं मात्र स्वभावरूप या विभावरूप परिणमन कर सकता है; सदा अपने ही परिणामों का ग्रहण-त्याग करता है, पर का ग्रहण-त्याग किंचित्मात्र भी नहीं करता।

प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र कारण-कार्य से युक्त है; ऐसा सत्यस्वरूप सर्वज्ञ के आगम में स्पष्ट है। स्वाश्रित दृष्टि, वीतरागता एवं यथार्थता की बात भाग्य से श्रवण करने को मिले, तथापि जो अपूर्वता से अंतर जानकर लक्ष्य में नहीं लेना चाहता, उस जीव को भगवान के उपदेश के योग्य कैसे माना जायेगा ?

परमात्म पद के सन्मुख

देखो, भैया ! यही आत्मा के हित की बात है, संसार में परिभ्रमण करते-करते जीव ने ऐसी समझ पूर्व अनंतकाल में एक सेकेण्ड भी नहीं की, एक सेकेण्ड भी जो ऐसी समझ करे, उसे भव का नाश हुये बिना न रहे। गृहस्थदशा होने पर भी जिसने ऐसी समझ करके स्वसन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, वह जीव मोक्ष महल के आँगन में आ चुका, भले ही उसे आहार-विहारादि हो किंतु आत्मा का लक्ष एक क्षण भी दृष्टि में से दूर नहीं होता, अतीन्द्रिय ज्ञानमय आत्मा का जो निर्णय किया है, वह किसी भी संयोग में छूटनेवाला नहीं है—उसे तो निरंतर धर्म होता ही है।

अंतर्मुख होकर, आत्मा के स्वसंवेदन से जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया, उस सम्यग्दृष्टि को भगवान का दर्शन हो गया-आत्मा का साक्षात्कार हो गया, अतीन्द्रिय आनंद का वेदन हो गया, स्वानुभव हो गया, निर्विकल्प समाधि हो गई, अनंत भव का नाश हो गया, सिद्ध परमात्मा का संदेश आ गया, आत्मा की मुक्ति का झंकार आ गया। वह निरंतर आंशिक स्वसंवेदन के आनंदसहित है, वह धर्मात्मा-परमात्मपद के सन्मुख ही है, सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की ऐसी दशा होती है—भले ही वह अव्रती हो... तिर्यंच हो, या नरकक्षेत्र में हो।

भगवान श्री ऋषभदेव के

सातवें भव की सम्यग्दर्शन संबंधी

एक महान प्रेरणादायक कथा

गतांक नं० २१९ से चालू

इस भरतक्षेत्र के आदि तीर्थंकर-आदिब्रह्मा श्री ऋषभदेव भगवान के ७वें भव की यह कथा है। उन्होंने वज्रजंघराजा की पर्याय में अपनी धर्मपत्नी श्रीमति सहित दो मुनिराजों को विधिपूर्वक आहारदान दिया था। पात्रदान की विशेषता से आयु पूर्ण होने पर यह दम्पति भोगभूमि में उत्पन्न हुए। भोगभूमि में वे दोनों महाकल्याणकारी सम्यग्दर्शन की किसप्रकार प्राप्ति करते हैं—उसका यह सुंदर वर्णन है।

जिसकी अपार महिमा है, उसका वर्णन पढ़ते-पढ़ते पात्र जीव को तत्त्वज्ञान और उसके दाता के प्रति अपूर्व प्रेम उत्पन्न होता है।

एक बार वज्रजंघ आर्य अपनी पत्नी-सहित कल्पवृक्ष की शोभा निहारते हुए बैठे थे; इतने में आकाश में जाता हुआ सूर्यप्रभ देव का विमान देखकर उन्हें अपनी पत्नी के साथ ही जातिस्मरण हुआ और उसी क्षण दोनों को संसार के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो गया। उसी समय वज्रजंघ ने दूर आकाशमार्ग से आते हुए दो चारणऋद्धिधारी मुनिया को देखा और वे मुनि भी कृपा करके नीचे उतर आये। वज्रजंघ उन्हें आते देखकर खड़े हो गये। सत्य यह है कि वर्तमान में विवेक जागृत करे तो पूर्व जन्म के संस्कार कारण बनते हैं।

दोनों मुनियों के समक्ष अपनी पत्नी सहित खड़े हुए थे, वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानों उगते हुए सूर्य और प्रतिसूर्य के समक्ष कमलिनी सहित दिवस शोभायमान होता है। वज्रजंघ ने दोनों मुनियों के चरणों में परम हर्ष सहित भक्तिपूर्वक अर्घ्य चढ़ाया और नमस्कार किया। उस समय उनके नेत्रों से हर्षाश्रु बहकर मुनिराजों के चरणों में गिर रहे थे और ऐसा लग रहा था मानों अश्रुजल से उनके चरणों का प्रक्षालन ही कर रहे हों। अपनी पत्नी सहित प्रणाम करने पर दोनों मुनिवरों ने आर्य वज्रजंघ को आशीर्वाद प्रदान किया और फिर अपने-अपने स्थान पर बैठ गये।

तत्पश्चात् सुखपूर्वक विराजमान दोनों चारणमुनियों से वज्रजंघ निम्नोक्तानुसार पूछने लगे। पूछते समय उनके मुख में से दंतकिरणों का समूह निकल रहा था, जिससे ऐसा लगता था मानों वे पुष्पांजलि बिखेर रहे हों! वे बोले—हे भगवान! आपका निवास कहाँ है? आप कहाँ से पधार रहे हैं और आपके आगमन का प्रयोजन क्या है? यह सब कहिये।

हे प्रभो! आपके दर्शन से मेरे हृदय में मित्रता का भाव उमड़ रहा है, चित्त अत्यंत प्रसन्न हो रहा है और ऐसा लग रहा है जैसे आप मेरे परिचित बंधु हों! इसप्रकार वज्रजंघ का प्रश्न समाप्त होने पर महामुनि अपनी दंत-किरणोंरूपी जल के समूह से उनके शरीर का प्रक्षालन करते हुए निम्नानुसार उत्तर देने लगे:—

हे आर्य! तू मुझे स्वयंबुद्ध मंत्री का जीव जान—कि जिसके द्वारा तूने महाबल राजा के भव में कर्मक्षय करनेवाले जैनधर्म का कुछ ज्ञान प्राप्त किया था। उस भव में तेरे वियोग के पश्चात् विशेष सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके मैंने दीक्षा धारण की थी और आयु के अंत में संन्यासपूर्वक शरीर का त्याग करके सौधर्म स्वर्ग के स्वयंप्रभ विमान में मणिचूल नामक देव हुआ था। वहाँ मेरी आयु एक सागर से कुछ अधिक थी। तत्पश्चात् वहाँ से चयकर भूलोक में उत्पन्न हुआ हूँ। जंबूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में स्थित पुष्कलावती देश संबंधी पुंडरीकिणी नगरी में प्रियसेन राजा और उसकी पटरानी सुंदरीदेवी के यहाँ प्रीतिंकर नामक बड़ा पुत्र हुआ हूँ और यह महातपस्वी प्रीतिदेव मेरे छोटे भाई हैं। हम दोनों भाइयों ने भी स्वयंप्रभ नामक तीर्थंकर जिनेन्द्र भगवान के निकट दीक्षा अंगीकार की। तप बल से हमें अवधिज्ञान और आकाशगामिनी चारणऋद्धि प्राप्त हुई है।

हे आर्य! हम दोनों ने अवधिज्ञानरूपी नेत्रों से जाना कि आप यहाँ उत्पन्न हुए हैं। आप हमारे परममित्र हैं, इसलिये हम आपको समझाने के लिये आये हैं। हे आर्य! तू निर्मल सम्यग्दर्शन के बिना मात्र पात्रदान की विशेषता से यहाँ उत्पन्न हुआ है—ऐसा निश्चित मान! महाबल के भव में तूने हमसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके शरीर छोड़ा था; परंतु उस समय भोगों की आकांक्षा के वश तू सम्यग्दर्शन की विशुद्धि को प्राप्त न कर सका। अब हम दोनों, जो सर्वश्रेष्ठ तथा स्वर्ग और मोक्षसुख का कारण है—ऐसा सम्यग्दर्शन देने की इच्छा से यहाँ आये हैं; इसलिये हे आर्य! तू इसी समय सम्यग्दर्शन ग्रहण कर। उसे ग्रहण करने का यह समय है; क्योंकि काललब्धि के बिना इस संसार में

जीवों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। जब *देशनालब्धि और*काललब्धि आदि बहिरंग कारण तथा करणलब्धिरूप अंतरंग कारणरूप सामग्री की प्राप्ति होती है, तब यह भव्य प्राणी विशुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक हो सकता है। जिस जीव का आत्मा अनादिकाल से लगे हुए मिथ्यात्वरूपी कलंक से दूषित हो रहा है, उस जीव को तत्त्वविचार में सावधान होने पर ऐसी निर्मल विचारधारा जागृत होती है कि सर्वप्रथम दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम होकर औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। जिसप्रकार पित्त-प्रकोप के कारण भ्रमित हुई चित्तवृत्ति का अभाव होने से दूध आदि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होने लगता है; उसीप्रकार तत्त्वविचार का उद्यम करते-करते स्वरूप में परिणामों की लीनता होते ही अंतरंग निमित्तकारणरूप मोहनीयकर्म का उपशम तथा क्षयोपशमसहित जीव आदि पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने लगता है। जिसप्रकार रात्रि के अंधकार को दूर किये बिना सूर्य उदित नहीं होता, उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी अंधकार को दूर किये बिना सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। हे भव्यजीव! अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण—इन तीन कारणों द्वारा मिथ्यात्व-प्रकृति के मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिरूप तीन टुकड़े करके कर्मों की स्थिति अल्प करता हुआ जीव सम्यग्दृष्टि होता है। विपरीत अभिप्रायरहित तत्त्वार्थश्रद्धान होने पर निम्नप्रकार श्रद्धान अविनाभावी होते ही हैं।

आप्त अर्थात् सर्वज्ञ, वीतराग तथा परमहित उपदेशक ऐसे आप्त-कथित आगम और जीवादि पदार्थों का अति प्रेम-रुचि सहित श्रद्धान करना, उसे सम्यग्दर्शन माना जाता है। यह सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मूलकारण है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्र नहीं हो सकते। जीवादि सात तत्त्वों का तीन मूढ़तारहित तथा अष्ट अंगसहित यथार्थ श्रद्धान करना, सो सम्यग्दर्शन है। प्रथम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पा—यह चार सम्यग्दर्शन के गुण हैं और श्रद्धा, रुचि, स्पर्श तथा प्रत्यय यह उसकी पर्यायें हैं। नि:शंकित,नि:कांक्षित और निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना यह सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं। इन आठ अंगरूपी किरणों से सम्यग्दर्शनरूपी रत्न अत्यंत शोभायमान होता है। हे

* *सर्वज्ञ वीतरागकथित छह द्रव्य, नवतत्त्व तथा मोक्षउपाय के ज्ञाता आत्मानुभवी पुरुष के पास से शुद्धात्मतत्त्व का श्रवण, ग्रहण और धारणारूप परिणामों की प्राप्ति को देशनालब्धि कहते हैं। धारणा=पदार्थ के बोध का कालांतर में भी संशय, विस्मरण न होना-ऐसे दृढ़ ज्ञान को धारणा कहते हैं।*

* *काललब्धि=धर्मलब्धिकाल; निजशुद्धात्मोन्मुख परिणाम (निजपरिणाम) की प्राप्ति।*

आर्य! तू इस श्रेष्ठ जैनमार्ग में शंका को छोड़, भोगों की इच्छा को दूर कर, ग्लानि को छोड़कर अमूढ़दृष्टि को (विवेकपूर्ण दृष्टि को) प्राप्त कर, दोष के स्थानों को छिपाकर, सम्यक्धर्म की वृद्धि कर, मार्ग से चलित होनेवाले धर्मात्माओं का स्थितिकरण, रत्नत्रयधारक आर्य पुरुषों के संघ में प्रेमभावना का विस्तार कर और जैनशासन की यथाशक्ति प्रभावना कर। मूढ़ताओं से अंध हुआ जीव, तत्त्वों को देखने पर भी नहीं मानता; इसलिये देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और पाखंडमूढ़ता—इन तीनों मूढ़ताओं को छोड़।

[नोट—जो ऊपर कहा है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ होनेवाले व्यवहारसम्यग्दर्शन के भेद का वर्णन है। निश्चयसम्यक्त्व तो निज आत्मा को ग्रहण करनेयोग्य माननेवाली स्वाश्रित दृढ़ता है।]

ऐसा निर्धार करके हे आर्य! पदार्थ के सम्यक्स्वरूप का श्रद्धान करनेवाले सम्यग्दर्शन को ही तू धर्म का स्वरूप समझ। वह सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने के पश्चात् इस संसार में ऐसा कोई सुख शेष नहीं रहता कि जिसे जीव प्राप्त न कर सकें। इस संसार में उसी पुरुष ने श्रेष्ठ जन्म प्राप्त किया है, वही कृतार्थ है तथा वही पंडित है कि जिसके हृदय में कपटरहित यथार्थ सम्यग्दर्शन विद्यमान है। हे आर्य! तू निश्चय समझ कि यह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढ़ी है, नरकादि दुर्गतियों के द्वार को रोकनेवाले सुदृढ़ कपाट हैं, धर्मरूपी वृक्ष की स्थिर जड़ है, स्वर्ग-मोक्षरूपी गृह का द्वार है और शीलरूपी रत्नहार के मध्य में जड़ा हुआ श्रेष्ठ रत्न है। यह सम्यग्दर्शन जीवों को सुशोभित करनेवाला है, स्वयं प्रकाशमान है, रत्नों में श्रेष्ठ है, सर्वोत्कृष्ट है और मुक्तिरूपी लक्ष्मी के हार समान है।—ऐसे इस सम्यग्दर्शनरूपी रत्नहार को, हे भव्य! तू अपने हृदय में धारण कर। जिस पुरुष ने अति दुर्लभ इस सम्यग्दर्शनरूपी श्रेष्ठ रत्न को प्राप्त कर लिया है, वह शीघ्र ही मोक्ष तक के सुख को प्राप्त कर लेता है। देखो, जो पुरुष एक मुहूर्त के लिये भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है, वह इस संसाररूपी बेल को जड़मूल से काटकर अति क्षीण कर देता है; उसका अनंत संसार टल जाता है। जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन विद्यमान है, वह उत्तम देव तथा उत्तम मनुष्यपर्याय में ही जन्म लेता है; उसे नारकी और तिर्यंच के बुरे जन्म कभी नहीं होते। इस सम्यग्दर्शन के विषय में अधिक क्या कहें? इसकी तो इतनी ही प्रशंसा पर्याप्त है कि—सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से अनंत संसार भी सांत (अंतसहित) हो जाता है। हे आर्य! तू हमारे कथनानुसार अरहंतदेव की आज्ञा को प्रमाण मानता हुआ अनन्य शरण होकर अन्य रागी-द्वेषी देवताओं की शरण में न जाकर इस सम्यग्दर्शन को स्वीकार कर।

जैसे शरीर के हाथ, पाँव आदि अंगों में मस्तक प्रधान है और मुखमंडल में नेत्र प्रधान हैं, उसीप्रकार मोक्ष के समस्त अंगों में गणधरादिदेव सम्यग्दर्शन को ही प्रधान मानते हैं। हे आर्य तू लोकमूढ़ता और पाखंडमूढ़ता का त्यागकर कि जिससे तू उस सम्यग्दर्शन को उज्ज्वल कर सके, जिसे मिथ्यादृष्टि जीव कदापि प्राप्त नहीं कर सकते। तू विशुद्ध समयग्दर्शन को धारण कर, तू सम्यग्दर्शनरूपी तलवार से दीर्घ संसाररूपी लता को काट दे। तू अवश्य निकट भव्य है और भविष्य में तीर्थंकर होनेवाला है। हे आर्य! इसप्रकार मैंने अरिहंत भगवान के कथनानुसार सम्यग्दर्शन का विषय लेकर यह उपदेश किया है। मोक्षरूपी कल्याण की प्राप्ति के लिये तुझे यह अवश्य ग्रहण करना चाहिये। [अपूर्ण]

सैद्धांतिक चर्चा

लेख नंबर १२

प्रश्न ६—यह प्रश्न दो खंडों में विभाजित किया जावेगा—

३७१—**प्रश्न—६ (अ)** मुक्त जीवों में ऊर्ध्वगमन कहाँ तक करने की योग्यता है ? और क्यों ?

प्रश्न—६ (ब) इस विषय में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव का क्या अभिमत है ?

उत्तर—(अ) यह प्रश्न द्रव्यानुयोग और करणानुयोग से संबंध रखता है, इसलिये इसका उत्तर देने से पूर्व कुछ विवेचन आवश्यक है। विवेचन सप्रमाण प्रस्तुत किया जावेगा। संपूर्ण उत्तर १४ विभागों में रहेगा:—

(१) श्री प्रवचनसार (गाथा १२८, पृष्ठ १६८) में लिखा है कि 'अब' (द्रव्य के) लोकालोकत्वरूप भेद का निश्चय करते हैं—

'पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालइढो।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु॥१२८॥'

अर्थ—आकाश में जो भाग जीव और पुद्गल से संयुक्त है तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल से समृद्ध है, वह सर्वकाल में लोक है। (शेष केवल आकाश अलोक है।)

लोक-अलोक का स्वरूप

टीका—लोक का स्वलक्षण षड्द्रव्य-समवायात्मकत्व (छह द्रव्यों की समुदायस्वरूपता) है और अलोक का केवल आकाशात्मकत्व (मात्र आकाशस्वरूपत्व) है। वहाँ सब द्रव्यों में व्याप्त होनेवाले परम महान आकाश में जहाँ-जितने में गति-स्थिति-धर्मवाले जीव और पुद्गल गति और स्थिति को प्राप्त होते हैं, (जहाँ जितने) में उन्हें जीव और पुद्गल की गति-स्थिति में निमित्तभूत धर्म तथा अधर्म व्याप्त होकर रहते हैं और (जहाँ जितने में) संपूर्ण द्रव्यों की वर्तना में निमित्तभूत काल सदा वर्तता है, **उस-उतने आकाश और शेष समस्त द्रव्यों उनका समुदाय ही जिसका स्वरूपता से स्वलक्षण है, वह लोक है;** और जहाँ-जितने आकाश में जीव तथा पुद्गल की गति-स्थिति नहीं होती, और (जहाँ-जितने में) धर्म, अधर्म और काल नहीं पाये जाते, **केवल वह उतना आकाश ही जिसका स्वरूपता से स्वलक्षण है, वह अलोक है ॥१२८॥**

देखिये, यहाँ पर यह स्पष्टरूप से बताया गया है कि लोक का स्वलक्षण षड्द्रव्यात्मकता है, और अलोक का लक्षण केवल आकाशात्मकता है। **लोक सर्वकाल लोकरूप ही रहता है और अलोक सर्वकाल अलोकरूप ही। किसी भी जीव की शक्ति लोक की मर्यादा बढ़ा दे या अलोक की मर्यादा कम कर दे, ऐसा कभी भी नहीं हो सकता। इसलिये कोई भी जीव या पुद्गल लोक-अलोक के स्वलक्षणपने का नाश कर दे, ऐसा हो ही नहीं सकता।**

३७२—(२) श्री प्रवचनसार (गाथा १३६ की टीका, पृष्ठ १७८) में लिखा है, 'जीव और पुद्गल तो युक्ति से ही लोक में हैं क्योंकि लोक छह द्रव्यों का समवायस्वरूप है।'

देखिये, यहाँ भी ऐसा कहा है कि, लोक छह द्रव्यों का समवायस्वरूप है। ऐसी स्थिति में यदि कोई भी जीव अलोक में जावे तो क्या होगा? इस प्रश्न पर जरा विचार करना चाहिये। अलोक में जीव के पहुँचने पर वहाँ आकाश और जीव, ये दो द्रव्य होंगे और यदि वहीं कोई पुद्गल भी पहुँच जावे तो वहाँ तीन द्रव्य होंगे—आकाश, जीव और पुद्गल; यह स्मरण रखना होगा कि वहाँ धर्म, अधर्म और कालद्रव्य नहीं ही होंगे। लोक-अलोक का ऐसा स्वरूप कभी भी नहीं होता। इसलिये जीव के गमन में उसकी उपादान शक्ति का परिणमन लोक के अग्रभाग तक ही हो सकता है, उसके आगे कदापि नहीं।

३७३—(३) श्री प्रवचनसार (गाथा १३३) की टीका (पृष्ठ १७५) में लिखा है, 'लोक तथा अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के वह संभव नहीं।'

देखिये, यहाँ भी लोक तथा अलोक की सीमा को अचलित कहकर उपर्युक्त बात की ही पुष्टि की गई है।

३७४—(४) श्री पंचास्तिकाय, गाथा ३, पृष्ठ १० की टीका में लिखा है, 'अब उसी अर्थ-समय का लोक और अलोक के भेद के कारण द्विविधपना है। वही पंचास्तिकाय-समूह जितना है, उतना लोक है। उससे आगे अमाप अर्थात् अनंत अलोक है। वह अलोक अभावमात्र नहीं है किंतु पंचास्तिकायसमूह के बराबर क्षेत्र छोड़कर शेष अनंत क्षेत्रवाला आकाश है।'

देखिये, इससे भी यह बात स्पष्ट है कि लोक उतना ही है, जितना पंचास्तिकायसमूह। **लोक की इस मर्यादा को तोड़ने की शक्ति स्वयं सिद्ध भगवान में भी नहीं, किसी जीव या पुद्गल में तो हो ही नहीं सकती।**

एक समय का ऊर्ध्वगमन-स्वभाव

३७५—(५) श्री पंचास्तिकाय (गाथा ७३, पृष्ठ ११८) में लिखा है कि सर्वतः मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करते हैं और इसी गाथा के भावार्थ में लिखा है कि 'समस्त रागादि-विभाव रहित ऐसा जो शुद्धात्मानुभूति लक्षण ध्यान, उसके बल द्वारा चतुर्विध बंध से सर्वथा मुक्त हुआ जीव भी, स्वाभाविक अनंत ज्ञानादि गुणों से युक्त वर्तता हुआ, **एक समयवर्ती अविग्रह गति द्वारा (लोकाग्रपर्यन्त) स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन करता है।**'

३७६—(६) इसी गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं—'उड्ढं गच्छदि' का अर्थ 'मुक्त जीव का स्वाभाविक अनंतज्ञानादि युक्त एकसमयलक्षण अविग्रहगतिरूप ऊर्ध्वगमन होता है।'

देखिये, यहाँ भी यही कहा है कि ऊर्ध्वगमन एकसमयलक्षण होता है और इसी को अविग्रह गति कहते हैं।

३७७—(७) सर्वार्थसिद्धि की वचनिका में पंडित जयचंद्रजी 'अविग्रहा जीवस्य' (अध्याय २, सूत्र २७, पृष्ठ १३२) की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—'याका अर्थ—मुक्त जीव की गति अविग्रह कहिए वक्रता करी रहित है, श्रेणीबद्ध गति करि एक समय विषैं सिद्धक्षेत्र विषैं जाय तिष्ठै है। विग्रह नाम व्याघात का है, ताकूं कौटिल्य कहिये, वक्रता भी कहिये। ऐसा विग्रह जहाँ नाहीं, सो अविग्रह कहिये। **ऐसैं अविग्रह गति है, सो मुक्त जीव के है।**'

देखिये, यहाँ एक समय लक्षण ऊर्ध्वगमन बतलाया गया है। विचारिये कि एक समय में कितना ऊर्ध्वगमन हो सकता है। आकाश अनंत है, उसका कोई अंत नहीं है तो एक समय मात्र में वह अलोक में जावे तो जीव बढ़ता-बढ़ता कहा तक जावे? और एक समय के पश्चात् कहाँ स्थिर हो जावे? क्या उसका स्थिर होना अलोक में बन सकता है? ऐसा कभी भी नहीं बन सकता।

इसलिये जीव के गमन में उसकी उपादान-शक्ति का परिणमन ही ऐसा है कि वह लोक के अंत तक ही जावे, आगे जा ही नहीं सकता।

३७८—(८) श्री सर्वार्थसिद्धि वचनिका में पंडित जयचंद्रजी 'तदनंतरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्' (अध्याय १०, सूत्र ५, पृष्ठ ४००) का अर्थ करते हुए कहते हैं, 'याका अर्थ—सर्व कर्म का अभाव भये पीछे जीव ऊर्ध्वगमन करै है, सो लोक के अंत ताईं जाय है। बहुरि इहाँ तदनंतर कहिये ताके अनंतर सो कौन? सर्व कर्म का अभाव होना ताके अनंतर। बहुरि इहाँ 'आलोकांतात्' में 'आङ्' उपसर्ग है और 'अभिविधि' अर्थ में है। तातैं ऐसा अर्थ भया, **जो लोक के अंत ताईं गमन है, आगे अलोक में नाहीं है। यातैं ऐसा भी जानिये, जो मुक्त होय तहाँ तिष्ठै भी नाहीं है बहुरि अन्य दिशा कूँ भी न जाय है।**'

देखिये, यहाँ 'लोक के अंत ताईं' शब्दों द्वारा स्पष्टरूप से सिद्ध होता है कि—ऊर्ध्वगमन का परिणमन अपने उपादानकारण से ही होता है।

३७९—(९) श्री प्रवचनसार (गाथा २३९, पृष्ठ २९४) में लिखा है, 'सर्व द्रव्यों की भूत, वर्तमान और भावी पर्यायें स्वोचित होती ही हैं।'

विचारिये, सिद्ध भगवान की ऊर्ध्वगमनरूप पर्याय अलोक तक उचित है या लोक के अग्रभाग तक? उत्तर यही होगा कि अलोक तक ऊर्ध्वगमनरूप पर्याय अनुचित हैं क्योंकि ऐसा होने से लोक-अलोक की सीमा नष्ट हो जावेगी, जब कि लोकांत तक ही ऊर्ध्वगमनरूप पर्याय मानने से वह सीमा सदाकाल अचल रहती है।

३८०—(१०) जैसे स्वोचित पर्याय हर समय में होती रहती है, वैसे ही हर समय में उचित निमित्त भी होता है। अनादि से अनंतकाल तक के प्रत्येक उत्पाद और व्यय को प्रत्येक समय में उचित बहिरंग साधनों की सन्निधि का सद्भाव होता है, जैसा कि श्री प्रवचनसार (गाथा ९५, पृष्ठ ११४) में भी कहा गया है, 'उचित बहिरंग साधनों के सान्निध्य के सद्भाव में...।'

३८१—**प्रश्न**—उचित पर्यायरूप उपादान का कार्य और उचित निमित्त क्या सिद्ध करते हैं?

उत्तर—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और लोक की मर्यादा लोकांत तक ही होती है इसलिये धर्मास्तिकाय का अभाव ही उचित निमित्त है। इस विषय का स्पष्टीकरण श्री समयसार (गाथा ८३) की टीका में किया गया है, आगे उसका आधार दिया जानेवाला है।

३८२—**प्रश्न**—धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिये आगे गमन नहीं हो सकता—ऐसा तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय १०, सूत्र ८) में क्यों कहा है ?

उत्तर—इस जगत में जीव के ऊर्ध्वगमन-स्वभाव के संबंध में अन्यवादी बहुत विवाद करते हैं और वे धर्मास्तिकाय का सद्भाव ही नहीं मानते, कुछ अन्यवादी कहते हैं कि सिद्ध जीव अनंतानंत काल तक अलोकाकाश में घूमते ही रहते हैं। इन सब बातों को असत्य सिद्ध करने के लिये और सच्चे नियम क्या हैं, वह बताने के लिये यह सूत्र लिया गया है। यही बात स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि की वचनिका (पृष्ठ ४०१) में पंडित जयचंद्रजी ने भी लिखा है, 'बहुरि धर्मास्तिकाय का अभाव सर्वत्र मानिये तो लोकालोक के विभाग का प्रसंग न होय।'

(११) पंचास्तिकाय (गाथा ९०) की टीका में कहा गया है, 'लोक षड्द्रव्यात्मक है' तथा (गाथा ९१ की टीका में) 'जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म (तथा काल) लोक से अनन्य हैं।'

देखिये, यदि जीव, पुद्गल और काल में अपने उपादान से अलोक में जाने का सामर्थ्य हो तो वे लोक से अनन्य किसप्रकार हो सकते हैं ? और फिर उपादान में तो अलोक में जाने की सामर्थ्य हो लेकिन उसके लिये कोई निमित्त न जुटे, यह बात भला कैसे हो सकती है ? ये दोनों बातें कदापि नहीं हो सकतीं क्योंकि छहों द्रव्यों में पर्यायरूप कार्य हर समय होता ही रहता है। यह कार्य किसी समय न हो, यह बात हो ही नहीं सकती। साथ ही, यह बात भी कभी नहीं हो सकती कि कार्य तो हो लेकिन उसके लिये उपादान और निमित्त में से एक भी कारण न जुटे। अतः कार्य के समय उचित निमित्त न हो, ऐसा कैसे हो सकता है ?

३८३—**प्रश्न**—(१२) पंचास्तिकाय (गाथा ९२) में कहा गया है कि 'यदि आकाश, जिसप्रकार वह अवगाहवालों को अवगाह-हेतु है, उसीप्रकार गति-स्थितिवालों को गति-स्थिति-हेतु भी हो, तो सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से परिणत सिद्ध भगवान बहिरंग और अंतरंग साधनारूप सामग्री होने पर भी क्यों (किस कारण से) उस (आकाश) में स्थिर हों ?'

इस प्रश्न पर से कोई कहते हैं कि देखो, यहाँ 'सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से परिणत सिद्ध भगवान हैं, ऐसा कहा है, इसलिये उनमें अलोक में जाने का उपादान कारण सिद्ध हो जावेगा। क्या यह सिद्ध हो जाना उचित है ?

उत्तर—(१) उपर्युक्त पंचास्तिकाय, गाथा (नंबर ९२) यह बताने के लिये लिखी गई है कि अवगाहन-हेतु में अकेले आकाश का निमित्तपना है। आचार्य भगवान ने यह टीका इसलिये लिखी है कि गति-स्थितिवालों को गति-स्थिति के लिये आकाश निमित्त नहीं है। गाथा की टीका से यह स्पष्ट सिद्ध हुआ कि गति-स्थिति-हेतुत्व आकाश में है ही नहीं, निमित्त तो उपादान का अभिव्यंजक है। इसलिये यदि आकाश को गमन के लिये निमित्त माना जाये तो सिद्ध भगवान का ऊर्ध्वगमनरूप परिणमन अलोकाकाश में हर जगह होने लगना चाहिये जैसा कि होता ही नहीं। जब गति-स्थिति के लिये धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय निमित्त हैं, तब उपादान की ऐसी ही योग्यता सिद्ध होती है कि जीव-पुद्गल की गति-स्थिति लोक में ही हो। इससे अधिक इनकी योग्यता होती ही नहीं, इसलिये यह स्पष्ट होता है कि 'सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक गति' जहाँ तक सिद्ध भगवान जाते हैं, वहीं तक अर्थात् लोकांत तक ही है। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय जहाँ तक हैं, वहीं तक सिद्धों का गमन उचित है। ऐसा मानने से दो बातें सिद्ध होंगी, प्रथम यह कि लोकाग्र तक की ऊर्ध्वगति में अंतरंग साधन अपना उपादान है और बहिरंग साधन धर्मास्तिकाय तथा दूसरी बात यह कि लोकांत में स्थिर रहने के लिये अंतरंग साधन अपना उपादान है और बहिरंग साधन अधर्मास्तिकाय।

उत्तर—(२) इस विषय में समयसार (गाथा ८३, पृष्ठ १५०) की निम्नलिखित पंक्तियाँ अत्यंत उपयोगी हैं, ''इसीप्रकार संसारयुक्त और निःसंसार अवस्थाओं की पौद्गलिक कर्म के विपाक का संभव (सद्भाव) और असंभव (असद्भाव) निमित्त होने पर भी, पौद्गलिक कर्म और जीव के व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से कर्ताकर्मपने की असिद्धि है, इसलिये जीव ही स्वयं अंतर्व्यापक होकर संसारयुक्त अथवा निःसंसार अवस्था में आदि, मध्य, अंत में व्याप्त होकर अपने स्वयं को संसारयुक्त या संसाररहित ऐसा अपने को एक को ही करता हुआ प्रतिभासित हो **परंतु अन्य को कर्ता हुआ प्रतिभासित न हो।**''

देखिये, यहाँ आचार्यदेव ने आज्ञा की है कि जीव के लिये संसारी अवस्था में पुद्गल कर्म का विपाक और निःसंसार अवस्था में पुद्गल कर्म का **असंभव (अभाव) निमित्त तो होता ही है, तथापि जीव ही स्वयं संसार और निःसंसार अवस्था में आदि, मध्य, अंत में अपने को एक को ही संसारयुक्त और निःसंसार करता हुआ प्रतिभासित हो।** यहाँ पर आचार्यदेव बताते हैं कि अज्ञानी को ऐसा लगता है कि कार्य के होने में, **निमित्त वह चीज़ है जो उपादान में विलक्षणता लाता है,**

परंतु यह मान्यता मिथ्या है। इसलिये आचार्यदेव ने 'अन्य (निमित्त) को करता हुआ प्रतिभासित न हो' ऐसी आज्ञा दी है। उनकी इस आज्ञा का उद्देश्य है, अज्ञानता का नाश करना।

इस विषय में प्रवचनसार की (गाथा १६९) की टीका बड़ी उपयोगी है। उसमें लिखा है, 'कर्म के रूप में परिणमित होने की शक्तिवाले वे पुद्गल-स्कंध जो तुल्य-(समान)-क्षेत्रावगाही जीव के परिणाममात्र के बहिरंग साधन हैं, उसका आश्रय लेकर **जीव उनको परिणमानेवाला नहीं है, तथापि स्वयमेव कार्यभाव से परिणमित होते हैं।** इससे निश्चित होता है कि पुद्गल पिण्डों को कर्मरूप में परिणमानेवाला आत्मा नहीं है।''

इस विवेचन से ये चार बातें निर्णय में आती हैं:—

(१) जिसमें कर्मरूप परिणमित होने की शक्ति होती है, ऐसा पुद्गल स्कंध ही कर्मरूप परिणमता है।

(२) ऐसी स्थिति में अर्थात् जब पुद्गल स्कंध कर्मरूप परिणम रहा होता है, तब जीव का परिणाम केवल उसका निमित्त या बहिरंग साधन है।

(३) कर्म स्वयं बहिरंग साधन का आश्रय करके अपने आप ही कर्मरूप से परिणमन करते हैं। जीव का परिणमन कार्मणवर्गणा को कर्मरूप में **परिणमानेवाला होता ही नहीं।**

(४) जीव का परिणमन निमित्त है किंतु वह निमित्त, पुद्गल कर्मवर्गणा के कर्मरूप परिणमने में कुछ भी विलक्षणता नहीं लाता, **यदि वास्तव में विलक्षणता लाता होता तो जीव ही परिणमानेवाला हो जाना चाहिये था,** जबकि ऐसा होता कभी भी नहीं। इसलिये परमार्थतः ऐसा है ही नहीं कि निमित्त कभी भी उपादान के कार्य में विलक्षणता, असर, प्रभाव, सहायता, टेका या ऐसा ही कुछ और करे।

३८४—**प्रश्न**—(१३) पुद्गल कर्म के विपाक का असंभव (अभाव) निःसंसार अवस्था के लिये निमित्त है तो वह निमित्त क्या व्यंजित करता है अर्थात् वह निमित्त क्या बतलाता है ?

उत्तर—यह निमित्त ऐसा व्यंजित करता है कि जब पुद्गल कर्म का अभाव है, तब जीव में संसाररूप परिणमित होने की योग्यता होती ही नहीं है। इसप्रकार सिद्ध जीवों के लिये जो धर्मास्तिकाय का अभाव जो निमित्त कारण है, वह ऐसा व्यक्त करता है कि **सिद्ध जीव में लोकाग्र तक जाने की ही योग्यता है।**

३८५—**प्रश्न**—(१४) यदि निमित्त को विलक्षणता लाने में नियामक न मानें तो निमित्त

की नियामकता ही क्या रहेगी अर्थात् निमित्त का कार्यक्षेत्र क्या रहा ?

उत्तर—निमित्त का कार्यक्षेत्र (नियामकता) यह बताने के लिये अभिव्यंजक है कि किस उपादान ने क्या कार्य किया, न कि उपादान का कार्य करने के लिये।

पंचास्तिकाय (गाथा २३) की टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं, ''यद्यपि समयरूप सूक्ष्म व्यवहारकाल **पुद्गल परमाणु के निमित्तत्व से व्यक्त होता है, प्रगट किया जाता हे और जाना जाता है।** घंटी का आदिरूप जो स्थूल व्यवहार काल है, वह घंटी के आदि निमित्तभूत जल, बर्तन और वस्त्र आदि द्रव्य विशेष से जाना जाता है। तथापि उसका समय, जो घंटी का आदि-पर्यायरूप व्यवहारकाल है, उसके कालाणुरूप द्रव्य के 'उपादान कारण के समान कार्य होता है।'' इसलिये यह देखना है कि निमिततभूत पुद्गल परमाणु क्या व्यक्त करते हैं। वे यह व्यक्त करते हैं कि कालद्रव्य ने अपने उपादान में जो समयरूप परिणमन किया है, वह निमित्तभूत परमाणु से नहीं हुआ है। इससे सिद्ध हुआ कि निमित्त के प्रयोजन तो किस उपादान ने कार्य किया, वह बतलाना, उसे व्यक्त करना, उसे प्रगट करना, उसका ज्ञान कराना है। यदि निमित्त का इतना प्रयोजन न मानें और विरुद्ध के विशेष मानें तो निमित्त, निमित्त न रह जावेगा, बल्कि वह उपादान बन बैठेगा।

विशेष स्पष्टीकरण

३८६—श्री सिद्धांतशास्त्र (गोम्मटसार) जीवकाण्ड (गाथा ६८, पृष्ठ ३०) में लिखा है, ''जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित हैं, अनंत सुखरूपी अमृत का अनुभव करने से शांतिमय हैं.... **लोक के अग्रभाग में निवास करनेवाले हैं,** उन्हें सिद्ध कहते हैं।'' तथा (गाथा ६९, पृष्ठ ३०-३१) ''सदाशिव, सांख्य, मस्करी, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक और कर्तृवादी (ईश्वर को जगत का कर्ता माननेवाले) मंडली के मतों का निराकरण करने के लिये ये विशेषण दिये हैं। मंडली मतवाला मानता है कि 'मुक्त जीव सदा ऊपर को गमन ही करता जाता है, कभी ठहरता नहीं।' उसके निराकरण के लिये 'लोक के अग्रभाग में स्थित हैं' यह विशेषण दिया है।''

३८७—**प्रश्न**—'निमित्त उपादान का व्यंजक या प्रगट करनेवाला या ज्ञान करानेवाला है' यह बात पंचास्तिकाय और पंचाध्यायी में तो कही गई है, पर इन दोनों ग्रंथों के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रंथ में भी कही गई है या नहीं ?

उत्तर—हाँ, कही गई है।

(१) श्री समयसार (गाथा ८) की टीका में लिखा है, ''व्यवहारनय भी म्लेच्छ भाषा के

स्थान पर होने से परमार्थ का प्रतिपादक (कहनेवाला) है; **इसलिये तो व्यवहारनय स्थापन करने योग्य है किंतु ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिये - इस वचन से वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है।'**

यहाँ निमित्त और व्यवहारकारण का एक ही अर्थ है। इसीप्रकार परमार्थकारण और उपादानकारण का भी एक ही अर्थ है। इसीलिये निमित्तकारण को उपादानकारण का प्रतिपादक भी कहा जा सकता है और व्यंजक भी, तथा प्रगटीकरण करनेवाला भी कहा जा सकता है और ज्ञान करानेवाला भी, क्योंकि इन चारों विशेषणों का एक ही अर्थ होता है, उनमें कोई अंतर नहीं।

(२) श्री समयसार (गाथा ४६, पृष्ठ ९३) में कहा गया है ''यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है, तथापि उसे (व्यवहारनय को) भी बताया है क्योंकि, **जैसे म्लेच्छों को म्लेच्छ भाषा वस्तुस्वरूप बतलाती है, उसीप्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवों को परमार्थ बतलानेवाला है।** इसलिये अपरमार्थभूत होने पर भी, धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिये उसे (व्यवहारनय को) बतलाना न्यायसंगत ही है।''

देखिये, यहाँ पर कहा है कि निमित्त, व्यवहारकारण है, वह उपादान का कार्य करने में अकार्यकारी है अर्थात् उपादान का कुछ भी कार्य करने में किंचितमात्र भी उसका हिस्सा नहीं है अथवा यों कहिये कि उपादान का कार्य करने में व्यवहार का हिस्सा एक प्रतिशत भी नहीं है।

(३) श्री समयसार की श्री जयसेनाचार्य की टीका (ब्र० शीतलप्रसादजी के अनुसार गाथा ४१२ से ४२६ तक और आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी के अनुसार गाथा ३९० से ४०४ तक) में लिखा है, ''यह सिद्ध है कि शुद्ध पारिणामिकपरमभाव को ग्रहण करनेवाली शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से और शुद्ध उपादानरूप से, जीव आदि व्यवहार में कहे हुए नौ पदार्थों से भिन्न तथा आदि, मध्य और अंत से रहित, एक अखंड प्रकाशमय, अपना ही निरंजन सहज ही शुद्ध, परम समयसाररूप सर्वप्रकार उपादेयभूत जो शुद्धज्ञानस्वभावी शुद्धात्मा का तत्त्व है, वही निश्चय से श्रद्धान करने, जानने और ध्यान करने के योग्य है। ऐसा तात्पर्य है तथा भावार्थ में...। इस तरह व्यवहारनय से जाने हुए नौ पदार्थों के मध्य में, सत्यार्थ जो शुद्ध निश्चय के द्वारा शुद्ध जीव ही एक वास्तव में स्वरूप में स्थिर होता है। इस व्याख्यान की मुख्यता से ११वें स्थल में १५ गाथायें पूर्ण हुईं।''

देखिये, यहाँ पर भी कहा गया है कि जीवादि नौ तत्त्वों का भेदरूप ज्ञान व्यवहार अर्थात् निमित्त है। भूतार्थनय से केवल अपना ही एक शुद्ध जीव आश्रय करनेयोग्य है। इससे सिद्ध हुआ

कि व्यवहारनय (निमित्त) आश्रय करनेयोग्य नहीं है, अपरमार्थ का आश्रय करनेयोग्य नहीं है। व्यवहारनय ऐसा व्यंजित करता है, जनाता है, ज्ञान कराता है, प्रगटीकरण करता है कि परमार्थ (-शुद्ध उपादान) का आश्रय करो और हमारा (व्यवहारनय या निमित्त का) आश्रय छोड़ो।

जिनागम में कथन की पद्धति

३८८—आगम में दो प्रकार का कथन आता है। प्रथम प्रकार के कथन में जिनमत का विधिरूप से स्थापन किया जाता है और इसी स्थापन में अन्यवादियों के मत का खंडन अंतर्गर्भित रहता है। द्वितीय प्रकार के कथन में अन्यवादी का नाम लेकर यह बताया जाता है कि उसकी क्या गलती है।

सब अन्यवादी 'सिद्ध जीव कहाँ रहते हैं ?' इस प्रश्न का उत्तर जैनागम के विरुद्ध देते हैं। ये उत्तर तीन भागों में रखे जा सकते हैं,

(१) जिस स्थान पर सिद्ध पर्याय प्रकट हुई, उसी स्थान पर रहते हैं,

(२) संपूर्ण आकाश में अनंतानंत काल तक घूमते रहते हैं,

(३) ज्योति (ब्रह्म) में ज्योति (सिद्ध जीव) विलीन होकर अपनी पृथक् सत्ता खो देते हैं, अनंत में मिल जाते हैं। ये तीनों उत्तर मिथ्या हैं, यह समझने के लिये धर्मास्तिकायरूप निमित्त (व्यवहार) के स्थापन की आवश्यकता है, जिसे सिद्ध करने के लिये पंचास्तिकाय (गाथा ८७, पृष्ठ १३८) की टीका में लिखा है, "यह धर्म और अधर्म के सद्भाव की सिद्धि के लिये हेतु दर्शाया गया है। धर्म और अधर्म विद्यमान हैं क्योंकि उनके बिना लोक और अलोक का विभाग नहीं बन सकता। जीवादि समस्त पदार्थों के एकत्र अस्तित्वरूप है। लोक और केवल शुद्ध आकाश के अस्तित्वरूप अलोक है। लोक में जीव और पुद्गल स्वरस (स्वभाव) से ही गति-परिणाम को तथा गतिपूर्वक स्थिति-परिणाम को प्राप्त होते हैं.....।"

३८९—इस टीका से स्पष्ट होता है कि जीव और पुद्गल **अपने स्वरस से ही गमन करते हैं, न कि इसलिये कि धर्मास्तिकाय है।** धर्मास्तिकाय तो निमित्तमात्र है। वह यह व्यक्त करता है कि जीव और पुद्गल अपने स्वरस से ही गमनरूप होते हैं, हम (धर्मास्तिकाय) से बिलकुल नहीं। इसप्रकार सिद्ध भगवान के लिये 'धर्मास्तिकाय का अभाव' निमित्तरूप है। यह धर्मास्तिकाय का अभावरूप निमित्त व्यक्त करता है कि सिद्ध जीव अपने स्वरस से ही अपना गति-परिणाम लोकांत तक करते हैं और चूंकि लोक अचलित है, अत: वे अलोक में नहीं जाते बल्कि उसी (१४वें

गुणस्थान के अंतिम) समय में वे गतिपूर्वक स्थिति-परिणाम को प्राप्त हो जाते हैं, जिसमें बहिरंग निमित्त के रूप में अधर्मास्तिकाय का सद्भाव माना जाना चाहिये।

यह बात स्पष्टरूप से समझी जा सकती है कि जिस समय में सिद्ध भगवान गतिरूप परिणमन करते हैं, उसी समय में वे स्थितिरूप परिणमन भी करते हैं। इसलिये सिद्ध भगवान में लोकांत तक जाने की योग्यता है और उसमें निमित्त है धर्मास्तिकाय का अभाव। यह मान्यता मिथ्या है कि धर्मास्तिकाय का अभाव होने से सिद्धजीव परमार्थतः लोकांत से आगे नहीं बढ़ सकता।

३९०—**प्रश्न**—जैसा आप कहते हैं, वैसा शास्त्र में क्यों नहीं लिखा? शास्त्र में यह क्यों लिखा है कि सिद्ध जीव के लोकांत से आगे न बढ़ने का कारण धर्मास्तिकाय का अभाव है?

उत्तर—यह व्यवहार के कथन की रीति है, इसलिये हम ऐसा कहते हैं। घड़े को घी का कहना व्यवहार से ही बन सकता है, परमार्थ से ऐसा कहना किन्हीं भी शब्दों में नहीं बन सकता। इस विषय में पंडित बनारसीदासजी का कथन उल्लेखनीय है:—

''उपादान विधि निरवचन, है निमित्त उपदेश।
बसै जु जैसे देश में, धरै से तैसे भेष॥''

यदि उस जीव की अपनी योग्यता को ही बताई जाय तो धर्मास्तिकाय एक स्वतंत्र द्रव्य है और उसकी मर्यादा कहाँ तक है, उसका ज्ञान नहीं होगा। इसलिये उपादान और निमित्त, दोनों का ज्ञान कराने के लिये शास्त्रों में अग्रलिखित कथन प्राप्त होते हैं:—

(१) गोम्मटसार जीवकांड (गाथा ६८, ६९) में लिखा है कि सिद्ध भगवान 'लोकाग्रस्थित' होते हैं। यह कथन उपादान की दृष्टि से है।

(२) पंचास्तिकाय (गाथा २८) के अनुसार कर्ममल से मुक्त आत्मा 'लोकस्य अंतम्' अर्थात् लोक के अंत को पाते हैं। यह वक्तव्य भी उपादान की दृष्टि से है। इसी गाथा की टीका में आचार्य अमृतचंद्रस्वामी ने उपादान और निमित्त, दोनों की बात स्पष्टरूप से की है। इसीप्रकार श्री जयसेनाचार्य ने भी अपनी टीका में उपादान और निमित्त, दोनों को बताया है। लेकिन भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का वक्तव्य गाथा में उपादान को बताने का है।

(३) प्रवचनसार (गाथा १३६) की टीका में आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी ने दोनों, उपादान और निमित्त की चर्चा की है।

(४) द्रव्यसंग्रह (गाथा १४ तथा ५१) में आत्मा के उपादानकारण का ही कथन किया गया है। धर्मास्तिकाय के अभाव की चर्चा दोनों गाथाओं में नहीं उठाई गई है क्योंकि यह तो ऐसे निमित्त का ज्ञान है जो अभावरूप है। यह अबाधित नियम है कि जहाँ उपादानकारण होवे, वहाँ सद्भावरूप निमित्त या अभावरूप निमित्त अवश्यमेव होता है। इसलिये उपादानकारण कहते ही निमित्तकारण गौणरूप से स्वयमेव प्रगट हो जाता है। निमित्तकारण कोई सच्चा कारण नहीं, वह तो केवल औपचारिक कारण है।

(५) द्रव्यसंग्रह, (गाथा २) की टीका में कहा गया है कि सिद्ध भगवान का ऊर्ध्वगमन-स्वभाव विस्रसा ऊर्ध्वगति है।

(६) द्रव्यसंग्रह की ही (गाथा १४) बृहत् टीका में श्री ब्रह्मदेवसूरि लिखते हैं कि धर्मास्तिकाय के अभाव का कथन इसलिये किया गया है, ताकि अन्यवादियों के मत का खंडन हो जावे। इसी के आगे वे और लिखते हैं (सिद्ध भगवान के आठ गुणों का वर्णन करते हुए अगुरुलघु गुण के विषय में), '**यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु (भारी) हो तो लोहपिण्ड की भाँति उसका निरंतर अधःपतन (नीचे गिरना) ही होता रहे और यदि सर्वथा लघु (हलका) ही हो तो वायु से ताड़ित (उड़ायी गई) आकवृक्ष की रुई के समान उसका निरंतर भ्रमण ही होता रहे। परंतु सिद्ध-स्वरूप ऐसा नहीं है,** उसका ऐसा न होना ही अगुरुलघु गुण कहा जाता है।'

इस कथन से सिद्ध हुआ कि सिद्ध भगवान का (अगुरुलघु गुण के कारण) वायु से ताडित आकवृक्ष की रुई के समान निरंतर भ्रमण नहीं होता। उसकी योग्यता अलोक में गमन करने की नहीं, लोकांत में ही रहने की है।

सिद्ध जीव का भाव

३९१—भावपाहुड (गाथा ९३) में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं, 'सिद्ध भगवान शिवालयवासी हैं।' और इसका अर्थ पंडित जयचंद्रजी करते हैं, 'शिवालय कहिए मुक्तिरूप महल ताके वसनेवाले हैं, लोक के शिखर परि जिनका वास है।' इसी की टीका में 'शिवालयवासी' का अर्थ कि सिद्ध भगवान ईषत् प्राग्भारा नामक शिला के ऊपर बसते हैं अथवा शिव के आलय का अर्थ है मुक्तिशिला, जिसके ऊपर सिद्ध भगवान तनुवातवलय में निराधार होकर आकाश में रहते हैं।

सिद्ध जीव की स्वभावगति-क्रिया का आचरण

३९२—चारित्रपाहुड़ (गाथा ४१) में भी यही कहा है, जिससे सिद्ध होता है कि जीव की

स्वभाव गति का सच्चा-चारित्र शिवालय में वास करने का है। अर्थात् अनंतानंत काल तक लोकाग्र में स्थित रहना ही उसका स्थान अपेक्षा से चारित्र है। भावपाहुड़ से ऐसा सिद्ध होता है कि सिद्ध भगवान का ऐसा ही भाव है। चूँकि भावपाहुड़ के इस प्रकरण में जीव का भाव और चारित्र बताया गया है। अत: वहाँ धर्मास्तिकाय के अभाव का कथन किया ही नहीं गया है।

प्रभुत्व गुण

३९३—श्री समयसार के परिशिष्ट (पृष्ठ ५८८) में सातवीं प्रभुत्वशक्ति की व्याख्या में लिखा है, **'जिसका प्रताप अखंड है, अर्थात् जो किसी के द्वारा खंडित नहीं की जा सकती, ऐसी स्वतंत्रता से शोभायमान होना जिसका लक्षण है, ऐसी प्रभुत्वशक्ति ॥७॥'**

देखिये, इससे सिद्ध होता है कि सिद्ध भगवान परिपूर्णरूप से स्वतंत्र हैं; इसलिये शोभायमान है। कोई अनेकांत स्वरूप का उल्टा अर्थ समझकर कहते हैं कि सिद्ध भगवान धर्मास्तिकाय न होने से अलोक में नहीं जाते; इसलिए परतंत्र हैं। कोई सिद्ध भगवान को कथंचित् स्वतंत्र और कथंचित् परतंत्र मानते हैं, उनकी यह मान्यता भी मिथ्या है। ऐसे मिथ्यात्वरूप अनेकांत का अर्थ तो यही हुआ कि कोई भी जीव कभी-भी संपूर्ण रीति से स्वतंत्र नहीं होता, सो ऐसी मिथ्या मान्यता सिद्ध भगवान का बड़ा अनादर है। सिद्धस्वरूप का अनेकांत यही है कि वह पूर्णरूप से सदा स्वतंत्र ही है, परतंत्र लेशमात्र भी नहीं।

विशेष आधार

३९४—**प्रश्न**—क्या इस विषय में कोई विशेष आधार है ?

उत्तर—हाँ है। श्री नियमसार (गाथा १७६, पृष्ठ ३५२) में लिखा है—

''हो आयुक्षय से शेष सब ही कर्म-प्रकृति विनाश रे,
सत्वर समय में पहुँचते, अर्हंत प्रभु लोकाग्र रे॥१७६॥

टीका—यह शुद्ध जीव को स्वभावगति की प्राप्ति होने के उपाय का कथन है। स्वभावगति-क्रिया के रूप से परिणत, छह अपक्रमों से रहित, सिद्धक्षेत्र के सन्मुख भगवान को.... शेष प्रकृतियों का संपूर्ण नाश होता है। (अर्थात् भगवान को शुक्लध्यान द्वारा आयुकर्म का क्षय होने पर शेष तीन कर्मों का भी क्षय होता है और तभी सिद्धक्षेत्र की ओर स्वभावगत क्रिया होती है) शुद्ध निश्चयनय से सहज महिमावाले निज स्वरूप में लीन होने पर भी व्यवहार से वे भगवान अर्ध क्षण (समयमात्र) में लोकाग्र में पहुँच जाते हैं।''

देखिये, इस टीका में 'सिद्धक्षेत्र के सन्मुख स्वभावगति-क्रिया के रूप में सिद्ध भगवान परिणत हैं' ऐसा कहा है, न कि 'वे अलोक के सन्मुख स्वभावगति-क्रिया के रूप में परिणत हैं।'

नियमसार की एक गाथा (नंबर १८४) धर्मास्तिकाय के अभाव को सिद्ध करती है जिसमें भी यही कहा है कि **जीवों की स्वभाव-क्रिया सिद्धिगमन है।** धर्मास्तिकाय का अभाव होने से भगवान आगे नहीं जाते, यह कथन निमित्त का है। अतः इसका अर्थ यह हुआ कि ऐसा वास्तव में तो नहीं है लेकिन निमित्त का ज्ञान कराने के लिए ऐसा कहा गया है। अभी तक अगुरुलघुत्व-प्रभुत्व गुण और सिद्ध जीव की स्वभाव गतिक्रिया की अपेक्षा कथन किया गया है।

अब जीव का प्रदेशत्वगुण की अपेक्षा कथन किया जा रहा है। इस विषय में स्वर्गीय शाह पंडित दीपचन्द्रजी कासालीवाल कृत 'चिद्विलास' (पृष्ठ ८०-८१) में लिखा है, 'आत्मा विषैं प्रदेशत्व शक्ति है, ताको वर्णन कीजिये है:—संसार अवस्था में अनादि संसारतें संकोच-विस्तार प्रदेशकाया, मुक्त भये चरमशरीरतें किंचित् ऊण (न्यून) आकार धरें हैं। सो इन प्रदेश एक-एक में अनंतगुण हैं, ऐसे असंख्य प्रदेश लोकप्रमाण हैं। अभेद विवक्षा में प्रदेशत्व अर भेदविवक्षा में असंख्य, व्यवहार के देहप्रमाण कहिए **अर अवस्थान विवक्षा में लोकाग्र अवस्थानरूप होय निवसै है।'**

जीव की प्रभुत्वशक्ति, अगुरुलघुत्वरूप प्रतिजीवी गुण की शक्ति, अपने स्वभाव-गति की क्रिया और प्रदेशत्व शक्ति, इन सबका यथार्थरूप से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि सिद्ध जीव चूँकि लोक का द्रव्य है, अतः लोकांत तक ही गतिरूप परिणमन करता है, इसके विपरीत कदापि नहीं।

भगवान की स्तुति

३९५—इन्द्र जब भगवान के समवसरण में आता है, तब भगवान की स्तुति १००८ नामों से करता है। उनमें उसने 'लोकाग्रवासी' ऐसा नाम लेकर भगवान की स्तुति की है। यदि यह 'लोकाग्रवासीपना' परतंत्रता के कारण हो तो उसके नाम पर स्तुति हो सकती है? पंडित बनारसीदासजी ने १००८ नामों के १००वें दोहे में 'लोकशिखर निवसंत' तथा ४९वें दोहे में 'लोकाग्रवासी' नाम दिये हैं। इन सबका सार निम्नलिखित है:—

(१) नियमसार की एक गाथा (नंबर १७६) में उपादान और एक गाथा (नंबर १८४) में निमित्त का वर्णन स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य ने किया है।

(२) तत्त्वार्थसूत्र में भगवान गृद्धपिच्छाचार्य (उमास्वामी) महाराज ने उपादान के लिये १०वें अध्याय का ५वाँ सूत्र तथा निमित्त के लिये उसी अध्याय का ८वाँ सूत्र लिखा है। मुक्त जीवों की गति कैसी होती है, इसका वर्णन दूसरे अध्याय के २७वें सूत्र में किया है।

(३) पंचास्तिकाय में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने ७३वीं गाथा में इस विषय का उपादान की दृष्टि से कथन किया है।

(४) भावपाहुड़ की एक गाथा (नंबर ९३) में 'शिवालय' शब्द देकर उपादान की ओर संकेत किया गया है।

(५) चारित्रपाहुड़ की भी एक गाथा (नंबर ४१) में 'शिवालय' शब्द देकर उपादान की ओर संकेत किया गया है।

(६) आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांतिदेव ने द्रव्यसंग्रह की गाथाओं (नंबर २-१४-५१) में उपादान से कथन किया है।

(७) गोम्मटसार जीवकांड की दो गाथाओं (नंबर ६८-६९) में भी उपादान से कथन मिलता है।

(८) श्री तत्त्वानुशासन (गाथा १२२) में एक शब्द 'लोकाग्रशिखरारूढ' आया है और उसी की टीका (हिन्दी अर्थ) में 'लोकाग्र के शिखर में विराजमान' शब्द आये हैं, जो उपादान की दृष्टि से हैं।

इसलिये यह सिद्ध हुआ कि मुक्त जीवों में ऊर्ध्वगमन की योग्यता एक समय के लिये ही तथा लोकांत तक ही हो सकती है।

सात तत्त्वों के संबंध में होनेवाली भूलें

३९६—(१) सिद्ध भगवान का अलोक में गमन धर्मास्तिकाय का अभाव होने से नहीं होता, यह कथन व्यवहार का है परंतु इसे निश्चय का कथन मान बैठना सिद्ध भगवान का अवर्णवाद है; इसलिये यह दर्शनमोह के बंध का कारण है क्योंकि इसमें देव के स्वरूप का अवर्णवाद है। यह मोक्षतत्त्व की भूल है और मोक्षतत्त्व की भूल में सातों तत्त्वों की भूल निश्चित है।

(२) उपर्युक्त व्यवहार के कथन को निश्चय का कथन मानने का अर्थ होगा आत्मा की परमेश्वरता (आत्मा से अपृथग्भूत कर्तृत्व-करणत्वरूप शक्ति) तथा प्रभुत्वगुण को मानने से इन्कार करना। फल यह हुआ कि चूँकि परमेश्वरता, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व आदि सभी गुणों

की मान्यता में विपरीतता हुई, अत: जीवतत्त्व की मान्यता भी मिथ्या हुई। और जीवतत्त्व की मिथ्या मान्यता का अर्थ है, अजीवतत्त्व की भी मिथ्या मान्यता, जैसा कि समयसार में भी (गाथा २०१ की टीका में) लिखा है कि जो जीवतत्त्व को यथार्थरूप से नहीं मानता, वह अजीवतत्त्व को भी नहीं मानता।

(३) जिसको जीव-अजीव का भेदविज्ञान नहीं है, वही ऐसा मानता है कि धर्मास्तिकाय जो एक अजीवतत्त्व है, जीव को गमन करने से वास्तव में रोकता है। उसने ऐसा मानकर धर्मास्तिकाय अर्थात् अजीवतत्त्व और चेतनस्वरूप जीवतत्त्व को एक ही कर डाला। अत: उसकी यह भूल अजीवतत्त्व-संबंधी हुई।

(४) जो जीव-अजीवतत्त्व की भूल करता है, वह आस्रव, बंध, पुण्य और पाप की भूल भी अवश्य करता है, ऐसा समयसार (गाथा ६९ से ७४ तक) में लिखा है।

(५) जो साध्यरूप मोक्षतत्त्व की भूल करता है, वह चूँकि यह नहीं मानता है कि संवर और निर्जरापूर्वक मोक्ष होता है। अत: मोक्षतत्त्व की भूल के द्वारा उसके साधनरूप संवर और निर्जरा तत्त्वों की भूल भी अवश्य होती है।

इसप्रकार की विपरीत मान्यता से सातों तत्त्वों के विषय में बड़ी गंभीर भूल होती है। जिससे सिद्ध भगवान का अवर्णवाद तो होता ही है, अपनी आत्मा का भी अवर्णवाद होता है।

३९७—**प्रश्न—६**(ब) इस विषय में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव का क्या अभिमत है?

उत्तर—६ (ब) भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव का इस विषय में क्या मत है—इस प्रश्न का उत्तर पूर्णरूप से ऊपर आ गया है। इसलिये अब पुन: लिखने की आवश्यकता नहीं। हमने भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव के मत के साथ-साथ अन्य आचार्यों के मत भी दे दिये हैं। जो मत भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव का है, उसी का प्रतिपादन तीर्थंकरों, गणधर आदि पाँच परमेष्ठियों तथा ज्ञानी-संतों का है क्योंकि वस्तुस्वरूप कभी अन्यथा हो ही नहीं सकता। *(क्रमश:)*

समाचार

कलापीनगर—में पूज्य स्वामीजी तारीख २२-३-६४ को पधारे, यहाँ स्वागत, प्रवचन, जिनमंदिर में भक्ति, रात्रिचर्चा का कार्यक्रम रहा।

सावरकुंडला—तारीख २३ से ३०-३-६४ तक ऊपर माफिक सुंदर कार्यक्रम रहा। तारीख ३० के दिन नये साधर्मी किसान बंधुओं के गाँव

कानातलाब में—पूज्य स्वामीजी पधारे, सारा दिन भारी उत्साहमय कार्यक्रम रहा, सारे गाँव ने अपार प्रेम से बड़ा भारी उत्सव मनाया, आसपास देहातों में से धर्म जिज्ञासुओं का मेला लगा था, सबने पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों का लाभ लिया। यहाँ के व आसपास के समाज में जैनधर्म के प्रति प्रेम बढ़ रहा है, स्वाध्याय, अभ्यास कर रहे हैं।

मोटा आंकडिया—तारीख ३१, तारीख १-४-६४ यहाँ भगवान श्री शांतिनाथ प्रभु की मूर्ति है 'महा वैराग्य परिणाम ठहराता है' ऐसी भव्य प्रतिमा २२ पूर्व पंडित श्री परमेष्ठीदासजी लाये थे वह चैत्यालय में विराजमान है, यहाँ पूज्य स्वामीजी का दो दिन का कार्यक्रम रहा।

उमराला—पूज्य स्वामीजी की जन्म नगरी है, तारीख २-३ अप्रेल, यहाँ पूज्य स्वामीजी के दर्शन और समागम के लिये बहुत भक्तजन एकत्र हुए थे, दो दिन बड़ा उत्सवमय वातावरण रहा, यहाँ बड़ा स्वाध्याय मंदिर है, जिनमंदिर है, पूजन, भक्ति, प्रवचन, रात्रिचर्चा के कार्यक्रम थे। उमराला से गढ़डा जाते समय रास्ते में—

सोनगढ़—१५ मिनिट के लिये जिनमंदिर में दर्शनार्थ आये, श्री सीमंधर भगवान के दर्शन करते समय भारी प्रसन्नता, उमंग दिख रहे थे। भगवान को परम हर्ष सहित अर्घ चढ़ाया बाद स्वामीजी ने स्वाध्याय मंदिर में आकर सभी को मांगलिक सुनाया-बाद—

सुणोसरा—१२ मिनिट के लिये तथा गढाली गाँव में १५ मिनिट विनंति के अनुसार पधारे थे।

गढ़डा—तारीख ४-५ भारी उत्सवमय वातावरण सहित कार्यक्रम रहा, यहाँ जिन मंदिर बनाने का विचार चल रहा है।

उगामेड़ी—रास्ते में १५ मिनिट के लिये विनंती आने से पधारे थे।

पाटी—तारीख ६ यहाँ भारी उत्साह और प्रेम जो देखते ही बनता था।

राणपुर—तारीख ७ से ११ यहाँ बड़ा जिनमंदिर-स्वाध्याय मंदिर है, सुंदर कार्यक्रम रहा।

बोटाद—तारीख १२ से १९ तक, यहाँ जिनेन्द्र वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव था, प्रतिष्ठाचार्य श्री गेंदालालजी शास्त्री (बूंदी राजस्थान) थे, यहाँ बहुत बड़ा उत्तंग दो मंजिलवाला जिनमंदिर है—स्वाध्यायमंदिर है, पूज्य स्वामीजी के प्रवचन व रात्रिचर्चा में समाज ने बहुत प्रेम से लाभ लिया, इन्द्रध्वज, ६४ त्रद्धि मंडल विधान पूजन, याग मंडल विधान पूजन, जाप्य, नांदिविधान, इन्द्रप्रतिष्ठा-जुलूस जलयात्रा, जिनेन्द्र अभिषेक, वेदी, ध्वज, कलश शुद्धि, जिनमंदिरजी के ऊपर की मंजिल पर तीन जिनेन्द्र प्रतिमाजी की प्रतिष्ठा, यज्ञ और अंतिम रथयात्रा सब उत्सव सुंदर विधि से संपन्न हुए, बाहर गाँव से बड़ी संख्या में मेहमान पधारे थे। वींछिया शहर से बालिकाओं ने सती राजुल का ज्ञान वैराग्यमय संवाद-ड्रामा दिखाया था, दर्शकों की बेहद भीड़ थी। बोटाद जैन समाज को इन सबकी उत्तम व्यवस्था व धर्म प्रभावना के लिये धन्यवाद।

पाणवी—रास्ते में १५ मिनिट के लिये ठहरे।

बरवाला—तारीख २० यहाँ सारे दिन भारी उत्सवमय कार्यक्रम रहा।

अहमदाबाद—तारीख २१ से २४ तक यहाँ पूज्य स्वामीजी का भव्य स्वागत बाद मंगल प्रवचन, दोपहर में प्रवचन तथा रात्रि में शंका समाधान, तारीख २२-२३ दो बार प्रवचन बाद जिनेन्द्र भक्ति, रात्रिचर्चा। तारीख २४ श्री महावीर जयंति उत्सव मनाया गया था, सबेरे प्रभात फेरी, समूह पूजन बाद पूज्य स्वामीजी द्वारा विराट सभा में भगवान श्री महावीर जन्मकल्याणक संबंधी मननीय प्रवचन हुआ, सुशोभित सभामंडप में श्रीजी का मंदिर रखा था, वहाँ भी हमेशा भगवान का पूजन होता था और यहाँ श्री महावीर जन्मकल्याणक की भक्ति श्री बाबूभाई मेहता (फतेपुर) ने कराई थी, दो बार पूज्य स्वामीजी का प्रवचन तथा रात्रि को मशहूर जिनेन्द्र भक्त श्रीमान उत्तचंदभाई (वडिया, सौराष्ट्र) द्वारा उत्तम वैराग्यमय भजन कीर्तन हुआ, दिन में सारे मंडल का प्रीतिभोज था, धर्म जिज्ञासुओं ने बाहरगाँव से भी अच्छी संख्या में आकर लाभ लिया। ऐसी सुंदर व्यवस्था और धर्म प्रभावना के लिये अहमदाबाद के मुमुक्षु मंडल को धन्यवाद।

वडोदरा—तारीख २५ यहाँ बड़े-बड़े लोगों सहित जैन, जैनेतर समाज ने बड़े भारी प्रेम से पूज्य स्वामीजी का स्वागत किया और प्रवचन आदि कार्यक्रम का लाभ लिया, यहाँ भी बाहर गाँव से लाभ लेनेवाले आये थे।

मीयागाम-करजण—तारीख २६ को उत्तम धर्म प्रभावना के योग्य सब कार्यक्रम यहाँ भी थे।

पालेज—तारीख २७-२८ यहाँ नया जिनमंदिर बना है, यहाँ भी सुंदर कार्यक्रम था।

सूरत—तारीख २९-३० यहाँ बहुत दीर्घ समय से पूज्य स्वामीजी के स्वागत की तैयारी कर रखी थी, सभी धर्म प्रेमी समाज द्वारा स्वागत हुआ। हमेशा दो बार पूज्य स्वामीजी का प्रवचन, बाद जिनमंदिर में भक्ति, रात्रि में शंका समाधान आदि सब कार्यक्रम का धर्म जिज्ञासुओं ने अच्छा लाभ लिया। जैन मित्र के संपादक श्री कापड़ियाजी श्री स्वतंत्रजी आदि ने अच्छा सहयोग दिया।

बीलीमोरा—तारीख १-५-६४ घाटकोपर, तारीख २-५-६४ यहाँ भी अच्छा कार्यक्रम रहा।

बम्बई—तारीख ३-५-६४ पूज्य स्वामीजी का खास स्वागत समारोह हुआ, रविवार का दिन होने से जुलूस में बड़ी भारी भीड़ थी। बारह मास से जिसकी तैयारी हो रही थी, धर्मजिज्ञासु समाज को धन्य अवसर था। सभी साधर्मीजनों के अच्छे सहयोग सहित श्री जिनेन्द्र पंचकल्याणक महामहोत्सव वैशाख सुदी १०वीं को होनेवाला है इसलिये पूज्य श्री कानजीस्वामी का बम्बई आगमन हुआ है, जिनकी अमृतमय वाणी दु:खों से उकताये हुये को परम शांति और सच्चा समाधान का कारण होने से धर्मपिपासु उनका भव्य स्वागत करें और बहुमान-विनयपूर्वक प्रवचनों का लाभ लें उसमें क्या आश्चर्य... स्थान-धोबी तालाब आजाद मैदान में भव्य सभामंडप में हमेशा दो बार पूज्य स्वामीजी का प्रवचन वैशाख सुदी १० तक चालू रहेंगे।

वैशाख सुदी २ परमोपकारी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी की ७५वीं जन्म जयन्ति मनाने का महोत्सव होगा।

—गुलाबचंद जैन

बम्बई शहर के उपनगर दादर में

श्री जिनेन्द्र पंचकल्याणक महोत्सव

समस्त बन्धुओं को यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता होगी कि बम्बई शहर के उपनगर दादर में दीर्घकाल के पश्चात् महादेवाधिदेव सर्वज्ञ वीतरागदेव बाल ब्रह्मचारी भगवान श्री पार्श्वनाथ प्रभु का दैदीप्यमान-भव्य जीवों के लिये सुखरूप पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव तारीख १६-५-६४ से २२-५-६४ तक प्रशान्तात्मा सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी की उपस्थिति में सम्पन्न होने जा रहा है।

अध्यात्म रसिक संत श्री कानजी स्वामी बम्बई शहर में तारीख ३-५-६४ को पधार गये हैं। पूज्य स्वामीजी तारीख ३-५-६४ से (धोबी तालाब) आजाद मैदान पर निर्मित श्री महावीर नगर में हर रोज, सुबह और दोपहर को सत्य मार्गदर्शक और पदार्थों का वास्तविक स्वरूप बतानेवाले तथा दु:ख के नाश का और सत्य सुख प्राप्ति के मार्ग को प्रदर्शित करनेवाले प्रवचन करेंगे। और पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के सब कार्यक्रम महावीरनगर में ही होंगे।

उपनगर दादर में नवनिर्मित श्री महावीर दिगम्बर जैन मंदिर में पंचकल्याणक महोत्सव होने का प्रथम अवसर है। त्रैलोक्यपूज्य-देवाधिदेव श्री पार्श्वनाथ भगवान का जन्माभिषेक १००८ जल से भरे हुये कलशों से होगा। संसार दु:ख से भयभीत हुए जीवों को—शांतिदायक, निज कल्याण के कारणरूप और सुखदायक गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण, ऐसे पंचविधि पंचकल्याणक महोत्सव बहुत ही आनंद के साथ मनाया जावेगा। उक्त नवनिर्मित मंदिरजी का निर्माण और पंचकल्याणक महोत्सव जैसा विशाल आयोजन पूज्य श्री स्वामीजी के उपदेशों का ही फल है।

अत: भव्य जीवों से सानुरोध प्रार्थना है कि सद्भाग्य से प्राप्त हुए उक्त महोत्सव और पूज्य श्री स्वामीजी के अमृतमयी न्याय, अनुमान, तर्क और प्रतीतिगोचर ऐसे प्रवचनों का अवश्य लाभ उठावें।

भवदीय—
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, प्रचार कमेटी बम्बई
पत्र व्यवहार का पता—श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल
ठिकाना १७३-७५, मुम्बादेवी रोड, बम्बई नं०२

बाह्य सामग्री प्राप्त करने की व्यग्रता व्यर्थ है

पुण्य ही संमुखीनं चेत् सुखोपायशतेन किम्।
न पुण्यं संमुखीनं चेत्सुखोपायशतेन किम्॥६०॥

अर्थ—पुण्य यदि उदय के संमुख है—अपना फल देने में प्रवृत्त है तो सैकड़ों सुख सामग्री के उपायों से भी क्या प्रयोजन? क्योंकि वह पुण्योदय से स्वयं ही प्राप्त होगा। इसीप्रकार यदि पुण्यकर्म उदय में नहीं आ रहा है तो भी उस पुण्यसामग्री के बहुत उपायों की भी क्या आवश्यकता है? अर्थात् पुण्यकर्म उदय के संमुख हो या विमुख हो, दोनों ही अवस्था में उसके लिये सैकड़ों प्रयत्न व्यर्थ हैं। (अणगार धर्मामृत)

सूतक-प्रकरण

सूतक में देव, गुरु, शास्त्र की पूजन, स्पर्शन तथा मंदिरजी के वस्त्र-पात्र का स्पर्शन तथा सुपात्रदान वर्जित है।

१- जन्म का सूतक १० दिन तक।

२- गर्भ पतन का सूतक, गर्भ को जितने महीने हुये हों, उतने ही दिन तक।

३- प्रसूति स्त्री को सूतक ४५ दिन तक।

४- रज:स्वला स्त्री को ५ दिन तक।

५- मृत्यु का १२ दिन, तीन पीढ़ी तक।

६- जन्म तथा मृत्यु का सूतक गोत्र के मनुष्य को ५ दिन।

७- ८ वर्ष तक के बालक की मृत्यु का ३ दिन, और ३ दिन के बालक का १ दिन।

८- पशु के प्रसूति अपने मकान में हो तो १ दिन।

९- दासी-दास तथा पुत्री को अपने घर के आंगन में प्रसूति हो तो १ दिन, व मरण हो तो ३ दिन।

१०- प्रसूति के बाद भैंस का दूध १५ दिन तक, गाय का दूध १० दिन तक, बकरी का दूध ८ दिन तक अशुद्ध है।

नोट:—यह सूतक प्रकरण दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट द्वारा संवत् २००८ से प्रति वर्ष प्रकाशित होनेवाले जैन तिथि दर्पण में हर साल छपता रहता है। प्रत्येक जैन बन्धु को इसका पालन करना चाहिये। —प्रकाशक

ग्राहकों से निवेदन

आत्मधर्म के १२वें अंक उपरांत यह १३वाँ अंक भेंट स्वरूप आपके पास पहुँच गया है, नये वर्ष का मूल्य आपने न भेजा हो तो शीघ्र मनीआर्डर द्वारा ३) भेज दीजिये। सैद्धांतिक चर्चा के विस्तृत लेख १२ मास से शुरु किये थे, अत: आपको करीब डेढ़ गुने पत्र पढ़ने को मिले हैं एवं धर्म जिज्ञासुओं को अच्छा संतोष प्राप्त हुआ—ऐसा ज्ञात हुआ है। अति मँहगाई के कारण ६) रुपये में लागत पड़ने पर भी घाटा उठाकर ३) रुपये सालाना ही चंदा रखा गया है। अत: ग्राहकगण आगामी वर्ष का वार्षिक मूल्य ३) रुपये मनीआर्डर द्वारा शीघ्र ही भेज देवें। अपना ग्राहक नंबर व पता स्पष्ट लिखें और वैशाख सुदी १ बाद मनीआर्डर न भेजिये कारण कि वैशाख सुदी १ तक जिनका चंदा नहीं आयेगा, उनके नाम पर हम वैशाख मास के अंक की वी.पी. वैशाख सुदी १ से करने लगेंगे। अत: ८५ नये पैसे के व्यर्थ के खर्च से बचने के लिये मनीआर्डर द्वारा ३) रुपये शीघ्र भेजिये। भेजने का पता—

आत्मधर्म कार्यालय
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
पोस्ट-सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सूचना

बंबई पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में आने के इच्छुक साधर्मियों के बहुत से पत्र सोनगढ़ आते हैं, उन सबसे प्रार्थना है कि निम्न पते पर पत्र व्यवहार करें।

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल
पंचकल्याणक महोत्सव कमेटी
ठिकाना-१७३-१७५ मुंबादेवी रोड
बम्बई-२

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	जैन बाल पोथी	०-२५
प्रवचनसार	प्रेस में	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
नियमसार	५-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
पंचास्तिकाय	४-५०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तीसरी आवृत्ति)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
द्वितीय भाग	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
तृतीय भाग	०-६०	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन		जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
बृ० पूजा भाषा	०-७५		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।